प्रकाशक :—

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
ब्यावर (राजस्थान)

जैन कथामाला

[भाग ३७]

लेखक
उपाध्याय श्री मधुकर मुनि

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक—
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
ब्यावर [राजस्थान]

प्रकाशकीय

आज से लगभग ७ वर्ष पूर्व उपाध्याय श्री मधुकर मुनि जी म० सा० के अन्तःकरण में एक भावना जागी थी कि आज की युवा पीढ़ी और होनहार किशोरपीढ़ी को इसप्रकार का रोचक और शिक्षाप्रद साहित्य दिया जाय कि वह उसके स्वाध्याय से अपना मनोरंजन करने के साथ-साथ योग्य शिक्षा व जीवन-निर्माण की प्रेरणा प्राप्त कर सके। इस कल्पना में मुनि श्री का ध्यान जैन कथा साहित्य के अक्षय भंडार पर केन्द्रित हुआ।

जैनकथा साहित्य का दोहन कर कथामाला का सम्पादन-प्रकाशन प्रारम्भ किया गया और हमें अत्यधिक प्रसन्नता है कि मुनि श्री की भावना सफल हुई। अब तक जैन कथामाला के ३६ भाग प्रकाशित हुये जिसमें लगभग ३५०-४०० से अधिक रोचक कहानियों का प्रकाशन हो चुका है और आगे भी प्रकाशन चालू है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे ये प्रकाशन पाठकों को रुचिकर लगेंगे और आज मँहगाई के समय में भी सस्ते मूल्य में उपलब्ध हो सकेंगे।

अमरचन्द मोदी
मन्त्री—
मुनि श्री हजारीमल

ये कथाएँ मुख्यतः सम्यक्त्व-शुद्धि से सम्बन्धित है। सम्यक्त्व ही धार्मिक जीवन की मूल भित्ति हैं, और सम्यक् दर्शन धारण करने के पूर्व जीवन को, अन्तःकरण को शुद्ध, पवित्र, नीति एवं धर्मयुक्त बनाना जरूरी है। जीवन में परोपकार, विनय, सुदक्षता, समयज्ञता, विवेकिता वीरता, गंभीरता, इन्द्रिय-विषयों पर संयम करने की क्षमता आना जरूरी है। ये गुण वास्तव में ही सम्यक्त्वशुद्धि के लिए अनिवार्य गुण है। इन कथाओं में इन्हीं गुणों पर प्रकाश डाला गया है। जो सभी को रुचिकर व बोधप्रद लगेगा।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्राथमिक

जैन कथामाला के इस ३७वें भाग में अब तक की परिपाटी से कुछ भिन्न और सर्वथा नवीन कथाओं को संकलित किया गया है। ये कथाएँ अपने आप में रोचक होने के साथ ही विशेप अर्थपूर्ण, उद्देश्यपूर्ण और श्रावक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाली हैं। इन्हें सिर्फ कहानियाँ न कहकर साद्देश्य कहानियाँ कहनी चाहिए।

ये कथाएँ श्री देवभद्रसूरि (गुण चन्द्रगणि) कृत 'कहारयण कोप' (कथा रत्न कोष) के द्वितीय भाग के आधार से लिखी गई है। श्री देवभद्रसूरि एक श्रेष्ठ कथाशिल्पी और कुशल चरित्र लेखक विद्वान थे। उन्हीं की कलम से संवेगशाला, महावीरचरियं और 'पासनाह चरियं' जैसी उत्तम रचनाओं का प्रणयन हुआ है। वे १२वीं शताब्दी के प्रमुख साहित्य स्रष्टा थे।

कथा रत्न कोप भाग २ की इन कथाओं में धर्माधिकारी-विशेष गुण वर्णनाधिकार में श्रावक के आदर्श गुणों पर प्रकाश डाला गया है। इन कथाओं का उद्देश्य है कि अच्छा साधु और अच्छा श्रावक वही है जो अपने-अपने व्रताचरण में जागरूक और स्थिर है। साथ ही जो सामान्य मानवीय गुणों का बड़ी सजगता और सुरुचिपूर्वक पालन करता हो। उत्तम मानवीय वृत्तियों का पोपण करना और साथ ही दुर्वृत्तियों का बुद्धिगम्य दुष्परिणाम दिखाना इन कथाओं का विशेष उद्देश्य है। कथाओं में मनोवैज्ञानिक ढंग से जीवन के स्वाभाविक पक्षों का सुन्दर चित्रण हुआ है।

ये कथाएँ मुख्यत: सम्यक्त्व-शुद्धि से सम्बन्धित है। सम्यक्त्व ही धार्मिक जीवन की मूल भित्ति हैं, और सम्यक् दर्शन धारण करने के पूर्व जीवन को, अन्त:करण को शुद्ध, पवित्र, नीति एवं धर्मयुक्त बनाना जरूरी है। जीवन में परोपकार, विनय, सुदक्षता, समयज्ञता, विवेकिता वीरता, गंभीरता, इन्द्रिय-विषयों पर संयम करने की क्षमता आना जरूरी है। ये गुण वास्तव में ही सम्यक्त्वशुद्धि के लिए अनिवार्य गुण है। इन कथाओं में इन्हीं गुणों पर प्रकाश डाला गया है। जो सभी को रुचिकर व बोधप्रद लगेगा।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशन सहयोगी

श्रीमान मोहनलालजी भंडारी, बी० कॉम

सदाचार ही सवसे वड़ी सम्पत्ति है, और नीतिनिष्ठा ही सबसे वड़ी कीर्ति है—यह सुभाषित वाक्य श्रीयुत मोहनलालजी भंडारी के जीवन में साकार होता है। आप धार्मिक संस्कारों से सम्पन्न सचाई, सादगी और कर्तव्यनिष्ठ जीवन जीने वाले आदर्श व्यक्ति हैं। अभी आप पश्चिम रेलवे में लेखाधिकारी के पद पर हैं। वम्वई आपका मुख्यालय है।

श्रीयुत भंडारीजी मूलतः पुरानी व्यावर के निवासी हैं। पुरानी व्यावर, व्यावर से चार मील दूर अवस्थित है, वहाँ आपका पैतृक भवन भी है। आपके पिताजी श्रीमान कालूरामजी भंडारी भी अच्छे धार्मिक श्रद्धा-सम्पन्न श्रावक हैं। आपके वड़े भाई श्री मदनलालजी वड़े सरल स्वभावी हैं। तथा आपके सुपुत्र का नाम नरेन्द्रकुमारजी भंडारी हैं। पुरानी व्यावर का अपना पैतृक मकान आपने सरकार को भेंट कर दिया है जहाँ पर "श्री कालूराम भंडारी राजकीय चिकित्सालय" चल रहा है।

श्री भंडारीजी का परिवार अव व्यावर में ही रहता है। आप स्वामीजी व्रजलालजी म० एवं उपाध्याय श्री मधुकर मुनिजी म० के प्रति अत्यन्त श्रद्धा भावना रखते हैं। अपने साहित्यिक अनुराग के कारण प्रस्तुत प्रकाशन में आप श्री ने अच्छा अर्थ सहयोग दिया है भविष्य में भी आपके सहयोग की कामना रखते हैं।

मंत्री
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

पाँच रंग परमेष
राद रंगों से खेल

सद्भाव
जैन

अनुक्रमणिका

१. दृढ़संकल्पी अमरदत्त
२. ज्ञान की अवज्ञा न करो
३. विवेकयुक्त आचरण
४. विवेक से काम लो
५. उपशम की आराधना
६. कार्य-दक्षता
७. कृतज्ञ भवदेव
८. वीरता फल-दायिनी
९. आदर्श गंभीरता
१०. इन्द्रियों की दासता
११. चुगली क्यों उगलें

१ दृढ़संकल्पी अमरदत्त

रयणपुर नरेश विजयधर्म और श्रेष्ठी जयघोष में गहरी मित्रता थी। उन दोनों ने एक साथ ही अनेक कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। सहपाठी होने के कारण उनमें मित्रता होना स्वाभाविक तो था किन्तु राजधर्म की मर्यादा का पालन भी आवश्यक था। अतः उनकी मित्रता लौकिक जनों में राजा की कृपा के रूप में प्रसिद्ध थी। श्रेष्ठी ने भी इस संबंध को स्वीकार कर लिया था और राजा ने भी। श्रेष्ठी स्वयं को राजा का कृपापात्र समझता और राजा भी उस पर अनुग्रह करता रहता।

श्रेष्ठी जयघोष के घर में लक्ष्मी अठखेलियाँ करती रहती। धन-धान्य, दासी-दास किसी वस्तु का अभाव न था। उनकी पत्नी सुजसा भी पति की सहधर्मानुचारिणी थी। सभी प्रकार के सुख श्रेष्ठी को उपलब्ध थे किन्तु एक अभाव ऐसा था जो पति-पत्नी को सदैव टीसता रहता। सेठानी के कोई पुत्र न था। लोग उसे वाँझ समझते। वैद्यों आदि से बहुत उपचार कराए गए किन्तु उसकी गोद भर नहीं सकी।

जब मनुष्य के अपने प्रयास सफ़ल नहीं हो पाते तो वह देवों की शरण में जाता है। यद्यपि सेठ और सेठानी बुद्धधर्म का पालन करते थे किन्तु उन भिक्षुओं के अनुष्ठान और जंत्र-मंत्र का भी कोई फल न निकला।

सेठानी ने अपनी कुलदेवी अमर की आराधना प्रारम्भ कर दी। वह उसकी पूजा-अर्चना करती, भोग लगाती, उपवास करती और भाँति-भाँति के अनुष्ठान करके उसे प्रसन्न करने का प्रयास करती।

—यह शिशु सामर्थ्यवान् और दृढ़निश्चयी होगा।

अपने पुत्र के इस गुण को जानकर पिता सन्तुष्ट हुआ। जोशीजी को समुचित भेंट देकर विदा कर दिया।

माता ने वालक का नाम अमरदत्त रखा था, क्योंकि वह कुलदेवी अमर की कृपा के फलस्वरूप प्राप्त हुआ था।

शनैः शनैः शिशु वढ़ने लगा। पाँच धाय उसकी देखभाल और सेवा करतीं। शिशु वालक हो गया।

वाल्यावस्था से ही श्रेष्ठी जयघोष उसे अपने साथ वौद्ध विहारों, स्तूपों और चैत्यों में ले जाते, वौद्धधर्म के ग्रन्थों को श्रवण कराते और वौद्ध भिक्षुओं के उपदेश सुनवाते।

पिता तो वालक को वौद्धधर्म में रँग रहे थे और माता उससे कुलदेवी अमर की पूजा-अर्चना करवाती। इन मिश्रित संस्कारों में पलता हुआ वालक अमरदत्त युवा हो गया।

पिता ने समान कुल-शील वाली एक श्रेष्ठि-कन्या से उसका विवाह भी कर दिया।

यद्यपि अमरदत्त युवा भी हो चुका था और विवाहित भी किन्तु पिता जयघोष उसे कहीं भी अकेला नहीं जाने देते थे। उनके मस्तिष्क में सदैव जोशीजी के वे शब्द गूँजते रहते थे जो उन्होंने उसके जन्म के समय कहे थे—'यह शिशु अपने कुलधर्म का त्याग कर देगा।' और कुल परंपरागत धर्म को त्यागना श्रेष्ठी जयघोष की दृष्टि में अक्षम्य अपराध था।

× × × ×

पुत्र को कितना भी नियंत्रण में रखा जाय फिर भी उसके कुछ समवयस्क मित्र वन ही जाते हैं। अमरदत्त के भी मित्र वन ही गए। यद्यपि वह उनके साथ अधिक घनिष्ठता न रख पाता फिर भी परिचय वढ़ता ही गया और वे लोग मित्रों की कोटि में आ ही गए।

एक दिन मित्रों ने उससे वसन्त क्रीड़ा देखने का आग्रह किया। वह भी युवा था। उसका मन भी मचलने लगा। वसन्त ऋतु होती

ही ऐसी है कि वृद्धों में भी युवक-भावनाएँ जागृत हो जाती हैं। वह आज्ञा लेने पिता के पास पहुँचा और बोला--

—पिताजी ! आपकी आज्ञा हो तो वसन्तोत्सव देख आऊँ ?

—क्या अकेले ही जा रहे हो ? —पिता ने प्रतिप्रश्न किया।

—नहीं मित्रों के साथ ।

—क्या करोगे जाकर ? यहीं घर में आनन्द मनाओ।

पिता के ये शब्द सुनकर उसका मुख म्लान हो गया। उसकी उमंगों पर पानी फिर गया। ज्यों का त्यों खड़ा सोचने लगा। पिता ने जो देखा तो दिल में दया उमड़ आई। बोले—

—तुम जाना ही चाहते हो तो चले जाओ किन्तु किसी अन्य-तीर्थिक, साधु-संन्यासी की चक्करबाजी में मत आ जाना और जैन श्रमणों से तो विशेषकर दूर ही रहना। वे बड़े ही मृदुभाषी और धूर्त होते हैं।

'जैसी आपकी आज्ञा' कहकर अमरदत्त मुदित-हृदय मित्रों में आ मिला। सभी लोग तैयार थे ही, शीघ्र ही नगर के बाहर पुष्पावतंस नामक उद्यान में जा पहुँचे।

उद्यान में स्त्री-पुरुषों के झुण्ड के झुण्ड वसन्तक्रीड़ा में मग्न थे। सभी मित्र उन्हें देखते और हर्षित होते। प्रातः से मध्यान्ह तक वे विभिन्न निकुंजों में घूमते और आनन्द मनाते रहे।

मित्रमण्डली सहित घूमते-घामते अमरदत्त ने अशोक वृक्ष के नीचे एक शिलापट्ट पर बैठे श्रमण-साधुओं को देखा। साधुजी के सामने कुछ लोग बैठे थे और वे उनको देशना दे रहे थे। उनके सम्मुख एक ऐसा पुरुष बैठा था जिसे देखकर अमरदत्त की करुणा जाग्रत हो गई।

वह पुरुष अनेक व्याधियों से पीड़ित था। उसे देखकर लगता था जैसे बीभत्सता ही साकार रूप धारण करके बैठी हो। सूखे होंठ, आँखें गड्ढे में धँसी हुईं, कपोल मुरझाए हुए। देह ऐसी मानो आग की लकड़ी।

आकर्षित हो गया। उसके हृदय में उस पुरुष की ऐसी दशा का कारण जानने की जिज्ञासा जागृत हुई। मित्रों से बोला—

—देखो ! वह पुरुष कितना निरीह व दुखी है। चलो उसकी दुःखगाथा सुनें।

—वहाँ जैन श्रमण भी तो बैठे हैं ? —मित्रों ने ऐतराज किया।

—उनसे हमें क्या लेना-देना है ? हम तो उस पुरुष की दुःखगाथा पूछ-सुनकर चले आएँगे। —अमरदत्त के स्वर में आग्रह था।

मित्रों ने समझाया—

—तुम्हारे पिता का आदेश है कि जैन श्रमणों से तो दूर ही रहना।

—तो हम कौन से उनसे जाकर चिपक जायेंगे ? परदेशी के दुःख का कारण जानकर लौट आयेंगे।

अमरदत्त के आग्रह को मित्र न टाल सके। उन्हें भी उस व्यक्ति के प्रति जिज्ञासा तो हो ही आई थी। पूरी मित्रमण्डली जा पहुँची और औपचारिकता निभाते हुए नमन करके उस पुरुष से कुछ ही दूर जा बैठी। उसी समय वहाँ बैठे हुए अन्य व्यक्तियों ने उस दुःखी पुरुष से पूछा—

—हे भद्र ! तुम कौन हो ? कहाँ से आए हो और तुम्हें क्या कष्ट है ?

वह दुःखी पुरुष बोला—

—भाइयो ! मेरा जीवन दुःखों और कष्टों की ही गाथा है। फिर भी आप लोगों को उत्सुकता है तो सुनिए—

मैं कंपिल्लपुर के निवासी शंकर गृहपति का पुत्र हूँ। जन्म से ही मेरे लक्षण शुभ नहीं थे। उत्पन्न होने के उपरान्त ही धन हानि प्रारम्भ हुई तो कुछ महीनों में ही सम्पूर्ण धन नष्ट हो गया। छह महीने का हुआ तो माता-पिता दोनों ही परलोक सिधार गये। उसके बाद जिन-जिन स्वजनों ने मेरा पालन-पोषण किया वे भी काल के गाल में समाते चले गये। इस प्रकार मैं एक स्वजन से दूसरे स्वजन

के घर में पलता रहा। एक वर्ष की आयु से ही मेरे कष्टों की कथा की मुझे स्मृति है। अनेक महारोग मेरे शरीर में प्रवेश कर गए। उनके कष्टों से मैं बहुत दुःखी हूँ। ऐसा मालूम पड़ता है मानों किसी भूतप्रेत ने मेरे शरीर पर अपना अधिकार कर लिया है और मुझे रात-दिन पीड़ित करता रहता है।

उस तीव्र पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए मैंने गले में फाँसी लगाने का का निश्चय किया। एक वन में जाकर गले में रस्सी का फन्दा लगाया और दूसरे सिरे को वृक्ष की मजबूत डाल से बाँधकर लटक गया। किन्तु दुर्दैव ने मेरा पीछा न छोड़ा। रस्सी टूट गई और मैं भूमि पर धड़ाम से आ गिरा। गिरने से रोगों की पीड़ा और भी तीव्र हो गई। मैं अचेत हो गया। लेकिन अभी दुःखभोग शेष था अतः वन की शीतल वायु से सचेत हुआ। अपने भाग्य को कोसता हुआ इधर निकल आया। यहाँ जैसे ही मुझे इन साधुजी के दर्शन हुए तो ऐसा लगा कि मेरे सम्पूर्ण शरीर और आत्मा में शीतलता की एक लहर-सी दौड़ गई है। मैंने समझ लिया कि मेरे दुःखों का अन्त आ गया है, निदान मिल गया है।

यह कहकर वह परदेशी मौन हो गया और मुनिश्री के चरणों की ओर बड़ी भक्तिपूर्वक देखने लगा।

परदेशी की दुःखगाथा सुनकर सभी उपस्थित लोगों को सहानुभूति हो आई। उनमें से एक ने पूछा—

—अपनी इन पीड़ाओं को मिटाने का तुमने कोई उपाय नहीं किया?

मुनिजी क्या कहते हैं ? क्या उपाय वताते हैं ? अमरदत्त और उसकी मित्रमण्डली की भी उत्सुकता जाग्रत हो गई थी।

पीड़ा से व्याकुल परदेशी ने अंजलि बाँधकर मुनिश्री से पूछा—

—भगवन् ! मेरी इस असह्य वेदना का कारण क्या है ? इस जन्म में तो मैंने ऐसा कोई पाप नहीं किया जिसका मुझे यह फल प्राप्त होता। क्या यह सब मेरे पूर्वजन्मों का फल-भोग है ? मैंने ऐसे क्या दुष्कर्म किए थे, प्रभो ! मुझे स्पष्ट वतलाइये।

मुनिश्री के हृदय में करुणा का संचार हो गया था। उन्होंने वताया—

हे भद्र ! यह सब तुम्हारे पूर्वजन्म के पाप का फल है। सुनो—

इस जन्म से पहले तीसरे भव में तुम किसी सीमा प्रान्त के ग्राम में देवल नाम के कुलपुत्र थे। किसी काम के लिए तुम अपने मित्र के साथ अन्य ग्राम को जा रहे थे। मार्ग में वन पड़ता था। उस वन में तुम्हें एक अन्य पथिक मिला। वातचीतों से तुमने यह जान लिया कि वह धनाढ्य है। तुम दोनों मित्रों ने चुपचाप सलाह की और उस सोते हुए पथिक की गरदन मरोड़ कर हत्या कर दी। उसका जितना धन था वह सब लेकर तुम दोनों आगे चल दिए।

धन सभी अनर्थों का मूल है। तुम दोनों मित्रों के हृदय में भी वेई-मानी जागी। तुमने उसे मारने के लिए और उसने तुम्हें मारने के लिए मद्य में विष मिला दिया। तुम दोनों ने वह विषमिश्रित मद्य पिया और मांस खाया। परिणामस्वरूप तुम्हारा प्राणान्त हो गया और तुम नरक में उत्पन्न हुए। जिस धन के कारण उस पथिक की तुमने हत्या की वही धन तुम्हारे प्राणों का भी ग्राहक वन गया।

नरक के असह्य कष्टों को भोगकर तुम कंपिल्लपुर में शंकर गृह-पति के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। उस पाप का फल-भोग अभी शेष है, इसी कारण तुम यह कष्ट पा रहे हो।

इधर जिस पथिक को मारकर तुमने उसका धन हरण किया था

को नमन किया किन्तु यह नमन औपचारिक न होकर भक्ति-भरा था।

अमरदत्त मित्रों के साथ चल तो दिया किन्तु उसकी इच्छा वहाँ से जाने की न थी। वह बार-बार पीछे मुड़-मुड़कर देखता जाता।

मित्र उसे साथ लेकर घर पहुँचे और उसे उसके घर छोड़कर अपने-अपने निवास-स्थानों को चले गए।

× × ×

रात्रि को सोते समय अमरदत्त की आँखों में साधुजी की छवि तैरने लगी। वह सोचने लगा—कितना शान्त चेहरा है, बोलते हैं तो मानो अमृत ही बरसता है। तेजस्वी मुखमण्डल तप के तेज से प्रदीप्त है। वह अन्य साधुओं और तीर्थिकों की तुलना श्रमण से करने लगा। उसे मुनिराज प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ लगे। उसके हृदय में उनके पुन: दर्शन करने की लालसा तीव्र होने लगी। किन्तु पिता की नाराजगी का भय भी था। उन्हें ज्ञात हो गया तो वे जाने ही न देंगे।

विचारों की इस ऊहापोह में रात्रि व्यतीत हो गई। प्रात:काल नित्यकर्मों से निपटते हुए हाथ पर दृष्टि गई तो देखा अँगुली में से अँगूठी गायब ! बहुत सोचा - कहाँ गिर गई, कल सुबह तो थी। अवश्य ही उद्यान में गिरी होगी। उद्यान जाकर खोजने का निश्चय किया। पिता के पास पहुँचकर बोला—

—पिताजी ! मेरे हाथ की अँगूठी कल उद्यान में गिर गई है। आपकी आज्ञा हो तो खोज लाऊँ।

अँगूठी खो जाने की बात सुनकर पिता झल्लाए—

—इतने बड़े हो गए हो, अपनी चीजें भी सँभाल कर नहीं रख सकते। इतनी कीमती अँगूठी खो दी।

—उद्यान में मिल जायगी। —सहमते हुए अमरदत्त ने कहा।

—क्या खाक मिलेगी ? हजारों लोग होंगे वहाँ ? जाने कौन उठा ले गया होगा ?

वलम्बी के साथ किया था। या तो अमरदत्त बौद्धधर्म का ही पालन करे, अथवा मेरी पुत्री को मेरे घर भेज दे। विधर्मी के साथ मेरी पुत्री नहीं रह सकती।

अमरदत्त ने पत्नी को उसके पितृगृह पहुँचवा दिया। किन्तु धर्म का त्याग नहीं किया वरन् और भी अधिक दृढ़तापूर्वक पालन करने लगा।

पुत्र की दृढ़ता देखकर माता मग्न रह गई। उसने मधुर स्वर में कहा—

—पुत्र ! तुम किसी भी धर्म का पालन करो किन्तु कुलदेवी अमर की पूजा-अर्चना तो करते रहो। उसका हम पर बहुत उपकार है। उसी की कृपा से मैंने तुम्हें पाया है।

—कैसी बातें करती हो माँ ! किसी भी देवी-देवता में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह किसी जीव को जन्म दे सके। मेरा-आपका पूर्वजन्म का इसी प्रकार संबंध था। इसमें उसने क्या किया ?—पुत्र ने माता को समझाने का प्रयास किया।

—ऐसी बात मत कह बेटा ! देवी रुष्ट हो जायगी तो...

—तो क्या बिगाड़ लेगी ?

—तुम समझते क्यों नहीं लाल ! बहुत दुःख देगी।

—माँ ! तुम तो व्यर्थ ही भयभीत हो रही हो ? मनुष्य अपने शुभ-अशुभ कर्मों के कारण ही दुःख-सुख पाता है। मैं उस वाणव्यंतरी की पूजा हरगिज नहीं करूंगा।—अमरदत्त ने दृढ़तापूर्वक दो टूक उत्तर दे दिया।

बहुत त्रास दिया। अनेक प्रकार के भयंकर रूप दिखाकर भयभीत किया और गरजती हुई आवाज में चेतावनी दी—

—यदि तुमने मेरी पूजा नहीं की तो मैं तुम्हें इतने दुःख दूंगी कि जीवन कठिन हो जायगा।

किन्तु देवी की चेतावनी का भी उस पर कोई प्रभाव न हुआ। वह अपने निश्चय पर अडिग रहा।

इधर अशुभकर्म का तीव्र उदय आया, उधर देवी की बन पड़ी। उसने अमरदत्त के शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न कर दिये। रोगों की पीड़ा से अमरदत्त व्याकुल हो गया। किन्तु उसने धैर्य न छोड़ा। वह दृढ़तापूर्वक अर्हन्तप्रणीत धर्म का पालन करता रहा। उसके हृदय में बार-बार यही विचार आता कि संसार भले ही रूठ जाय, देह छूट जाय किन्तु जैनधर्म और तत्त्व-विचार न छूटे।

शनैः शनैः अशुभकर्मों का उदय समाप्त होकर शुभकर्मों का उदय आया। अमरदत्त के रोग दूर हो गए। उसकी दृढ़ता के समक्ष कुलदेवी पराजित हो गई। उसने अपने दुष्कृत्य की क्षमा माँगी। माता-पिता भी पुत्र की दृढ़ता से प्रभावित हुए। उनके क्रोध का स्थान प्रमोद ने ले लिया। वे अपने पुत्र के सद्गुणों की प्रशंसा करने लगे। पुत्र के संपर्क से वे उनकी रुचि भी जैनधर्म की ओर बढ़ी।

पुत्र ने भी कोमल और विनम्र शब्दों से उन्हें जैनधर्म का महत्व समझाया। उन दोनों ने बौद्धधर्म को त्यागकर जैनधर्म को स्वीकार कर लिया।

अमरदत्त ने अपनी दृढ़ता से सभी को प्रभावित किया। उसके ससुर ने उसकी पत्नी भी वापिस भेज दी। वह भी जैनधर्मानुयायिनी बन गई।

जयघोष श्रेष्ठी का समस्त परिवार अमरदत्त की दृढ़ता और सामर्थ्य के कारण कल्याण पथ पर लग गया।

—कथारत्नकोष, भाग २, कथानक २१

उसका यश फैल गया। गमन करते समय उसने पुत्र को शिक्षा दी—मेरे पीछे भी दान का यह सिलसिला इसी प्रकार जारी रखना। पुत्र ने पिता की आज्ञा सिर झुकाकर स्वीकार की। पिता सन्तुष्ट हो गया।

शुभ मुहूर्त में संवर सेठ अपने वाहनों को लेकर चल दिया। मार्ग में भी वह दान देता जाता। जिस ग्राम अथवा नगर में उसके वाहन पहुँच जाते, वहाँ के निवासी बहुत प्रसन्न होते। मार्ग में सभी लोगों को प्रसन्न करता हुआ संवर सेठ सुरभिपुर पहुँचा। वहाँ पहुँचते-पहुँचते वर्षा-ऋतु प्रारंभ हो गई। आगे बढ़ना कठिन था। अतः सेठ ने वहीं वर्षा-ऋतु बिताने का निश्चय किया। उसने अपने और अपने आदमियों के लिए मकानों का प्रबन्ध किया। बैल-खच्चर आदि की समुचित व्यवस्था की और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगा।

धन में यथेष्ठ आकर्षण शक्ति होती है और यदि उसका उपयोग दान में किया जाय तो यह शक्ति अनेकगुनी बढ़ जाती है। संवर सेठ के दानी स्वभाव ने नगर के अधिकांश लोगों को आकर्षित कर लिया। वे उसके पास आने और बैठने लगे। वर्षा-ऋतु के कारण काम तो कोई था नहीं, समय यथेष्ठ था अतः बात-चीतों का सिल-सिला चलता रहता। एक दिन एक व्यक्ति ने बताया—

—सेठजी! इस नगर में भूत-भविष्य को जानने वाला सुमेघ नाम का एक ब्राह्मण रहता है।

अपना भविष्य जानने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य में होती है। संवर सेठ को भी उत्सुकता हुई। उस व्यक्ति से कहा—

—उसे मेरे पास भेज देना।

सेठ की इच्छा उस पुरुष ने ब्राह्मण सुमेघ को बताई। सुमेघ एक दिन सेठ के पास जा पहुँचा। सत्कारपूर्वक बिठाकर सेठजी ने पूछा—

—ज्योतिषीजी! आप मुष्टि आदि के प्रश्न ही बता सकते हैं अथवा पूर्वजन्म के संबंध में भी....?

सुमेघ ने संवर सेठ का आशय समझ लिया। ध्यानपूर्वक सेठ को देखते हुए बोला—

—आप अपनी इच्छा कहिए, सेठजी !

—अन्य प्रश्नों में तो मेरी कोई रुचि नहीं है, यदि आपका ज्ञान इतना गंभीर हो तो मेरा पूर्वभव बतायें।

नैमित्तिक कुछ समय तक गंभीरतापूर्वक विचार करता रहा। जब उसे सेठ का पूर्वभव स्पष्ट हो गया तो बोला—

—ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती किन्तु गुरु की कृपा से जो कुछ मैंने सीखा है, उसके अनुसार मैं आपका पूर्वजन्म बताता हूँ। एकाग्र-चित्त होकर सुनिए—

पांचाल देश के कनकपुर नामक सन्निवेश में तुम वैशदत्त नाम के कणखी थे। तुम्हारी पत्नी का नाम चन्द्रलेखा था। तुम दोनों में बहुत प्रेम था किन्तु चन्द्रलेखा का प्रेम तुम पर अत्यधिक था।

एक बार किसी काम से तुम दूसरे ग्राम गए। तुम्हारे पीछे से तुम्हारा एक मित्र तुम्हारे घर आया। उसने तुम्हारी स्त्री के प्रेम की परीक्षा लेने के विचार से शोकाकुल होने का बहाना किया और भरे कण्ठ से कहा—

—तुम्हारे पति को सर्प ने काट खाया जिससे उसकी मृत्यु हो गई।

यह समाचार चन्द्रलेखा के लिए वज्राघात था। उसने व्याकुल हृदय से पूछा—

—क्या आप सत्य कह रहे हैं ?

—मैं ऐसा भयानक झूठ क्यों बोलूंगा ?

—क्या सचमुच ही उनकी......।

—हाँ ! तुम्हारे पति की मृत्यु हो गई है। —मित्र ने और भी शोकाकुल होकर कहा।

—हा स्वा....मी.... ! —चन्द्रलेखा के मुख से अटककर निकला

और वह कटे वृक्ष की भाँति धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ी। उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

चन्द्रलेखा की मृत्यु से तुम्हारे मित्र के भी होश उड़ गए। उसने तो प्रेम की परीक्षा लेनी चाही थी किन्तु वहाँ अनर्थ हो गया। वह घबड़ाकर घर से निकल भागा किन्तु मार्ग में उसे विचार आया कि इस आघात को तुम भी न सह सकोगे। अत: उसने अपने मस्तिष्क में एक योजना बनाई और तुमसे मार्ग में ही जा मिला। उसने तुम्हें एकान्त स्थान में ले जाकर गंभीरतापूर्वक बताया—

—प्रिय मित्र ! मैं अभी-अभी तुम्हारे घर से आ रहा हूँ। वहाँ मैंने तुम्हारी स्त्री चन्द्रलेखा को किसी अन्य पुरुष के साथ अनुचित कर्म में रत देखा। मैं यह कृत्य न देख सका और वापिस लौटने लगा तो उसने अपने वस्त्र सँभालते हुए मुझे रोककर कहा—आप कहाँ लौटे जा रहे हैं ? मैंने आवेश में कह दिया—मुझे मुँह मत दिखाओ। इस बात को सुनकर वह भयभीत हो गई। भय के कारण उसकी हृदयगति बन्द हो गई।

यह सुनकर तुम उदास हो गए तो उस मित्र ने पुन: समझाया—

—मित्र ! स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है। उनका प्रेम भी उनका कपटाचरण होता है। तुम दु:ख मत करो।

किन्तु तुम्हें दु:ख होना स्वाभाविक था। तुम मन ही मन भाग्य को कोसने लगे। पत्नी की अन्त्येष्टि करके घर में आये तो घर तुम्हें काटने लगा। भाँति-भाँति के विचार तुम्हारे मस्तिष्क में उठने लगे। गृहस्थाश्रम को दुर्गति का कारण मानकर तुमने उसे त्यागने का निश्चय कर लिया। आधी रात को अकेले ही तीर्थाटन करने के लिए निकल पड़े।

चलते-चलते तुम एक घने वन में जा पहुँचे। तुम्हारे पास न खाने को एक दाना था और न पीने को पानी। भूख-प्यास से तुम्हारी बुरी दशा थी। उसी समय एक जंगली मनुष्य को तुम पर दया आ

गई। वह अपनी पहाड़ी गुफा में तुम्हें ले गया और अपनी स्त्री से बोला—

—यह पुरुष बहुत भूखा-प्यासा है, इसे कुछ खाने को दो।

स्त्री ने कुछ वन्य फल और घड़ा पानी लाकर अपने पति के सामने रख दिया और बोली—

—यही है, चाहो तुम खाओ और चाहे इस पुरुष को खिलाओ।

उस वनवासी पुरुष ने अपना भोजन तुम्हें खिला दिया। तुम पानी पीकर सन्तुष्ट हुए तो वह बोला—

—भद्रपुरुष ! तुम गुफा के अन्दर सो जाओ, मैं बाहर पहरा दूँगा।

—क्यों ?

—यहाँ सिंह का भय सदैव बना रहता है।

—यह अनुचित होगा। पहरा मैं दूँगा।

—तुम इस जंगल के बारे में कुछ जानते नहीं और व्यर्थ का हठ कर रहे हो।

यह कहकर उस बर्बर मनुष्य ने आग्रह करके तुम्हें गुफा के अन्दर सुला दिया और स्वयं गुफा के बाहर सो गया। उसकी आशंका सत्य निकली। रात्रि को सिंह आया और उसे मारकर खा गया।

प्रातःकाल जब उसकी स्त्री ने उसकी हड्डियाँ ही शेष देखीं तो वह छाती पीट-पीट कर रोने लगी। तुम्हारी नींद भी खुल गई। तुमको भी बहुत दुःख हुआ किन्तु उस स्त्री को समझा-बुझाकर चुप किया। अन्त्येष्टि करने के लिए चिता पर उस पुरुष की हड्डियाँ रखकर तुमने आग लगा दी। अचानक ही वह स्त्री पतंगे के समान जलती चिता में कूद पड़ी और जलकर भस्म हो गई।

इस हृदयद्रावक दृश्य को देखकर तुम और भी दुःखी हो गए। तुम्हें जीवन निस्सार लगने लगा और मरने की इच्छा से सीधे तीर्थराज प्रयाग जा पहुँचे। वहाँ स्नान आदि से शुद्ध होकर तुमने मरण की इच्छा से एक ऊँचे स्थान पर खड़े होकर गिरने का विचार किया।

तुम कूदने ही वाले थे कि एक भद्रपुरुष ने तुमको पकड़ लिया और पूछा—

—आत्महत्या क्यों करना चाहते हो ? क्या कारण है ?

—एक कारण हो तो बताऊँ। मुझे मर ही जाने दो।

—मनुष्य-जन्म अनमोल है। बार-बार नहीं मिला करता। इसे यों ही मत खोओ। मुझे अपना दुःख बताओ। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।

उस भद्रपुरुष के आग्रह पर तुमने अपनी सम्पूर्ण कथा कह सुनाई। उस पुरुष ने कहा—

—यदि उस वनवासी मनुष्य के लिए तुम्हारे हृदय में इतना ही स्नेह है तो कोई भवन आदि बनवा कर उसका नाम अंकित करा दो, जिससे उसका यश फैले। दान आदि धर्मकार्य करो। यही मार्ग उचित है। आत्महत्या से न तुम्हारा कोई भला होगा और न उस वनवासी का ही नाम कोई जान सकेगा।

—दान आदि और भवन निर्माण सभी कुछ धन से होता है। मुझ जैसा निर्धन क्या कर सकता है ?

—तुम चिन्ता मत करो। मेरे पास पारस पत्थर का एक टुकड़ा है। उसे ले लो। उसके स्पर्श और अग्नि से शोधकर तुम लोहे को सोना बना सकते हो। उस सोने (स्वर्ण) से अपनी इच्छा पूरी करो।

यह कहकर उस भद्रपुरुष ने आग्रहपूर्वक वह पारस का टुकड़ा तुम्हें दे दिया। तुम उसे लेकर अपने ग्राम वापिस आ गए। वहाँ बहुत सा स्वर्ण निर्मित कर उस वनवासी के नाम से अंकित एक भवन का निर्माण कराया। भूखे-प्यासे लोगों के लिए सदाव्रत खोल दिया। मुक्तहस्त से दान करने लगे। धन का तो तुम्हारे पास अभाव था ही नहीं। उपकार और धर्म की क्रियाएँ अनवरत चलने लगीं।

जब तुम्हें अपना अन्त समय समीप दिखाई दिया तो तुमने

पारस का टुकड़ा उस भवन के एक कौने में गाड़कर छिपा दिया।

वहाँ से मरकर तुम संवर नाम के सेठ जयन्ती नगरी में उत्पन्न हुए।

संवर सेठ को पिछले जन्म का पूरा वृत्तांत सुनाकर नैमित्तिक सुमेघ ने सम्बोधित किया—

—सेठजी ! यह पिछले जन्म के दानधर्म का ही प्रभाव है कि तुम अखण्ड लक्ष्मी के स्वामी हुए हो। चाहे जितना दान दो, धर्म करो, तुम्हारे जीवन में कभी समाप्त ही न होगी।

नैमित्तिक की बात सुनकर सेठ मन में ऊहापोह करने लगा। उसने ज्योतिषीजी को वस्त्र, धन आदि से संतुष्ट करके विदा किया और मन ही मन अपने पूर्वजन्म पर विचार करने लगा। उसने सोचा—उस पारसमणि के टुकड़े की अपेक्षा मेरे ये वाहन और इनमें भरा माल तो कूड़ा-कचरा है। इस बार-बार की खरीद-बेच में क्या रखा है ? उस पारसमणि को लाकर खूब दान करूँ और अपना जन्म सफल बनाऊँ।

यह निश्चय कर सेठ भरी बरसात में ही वहाँ से चल दिया और सीधा पांचाल देश के कनकपुर सन्निवेश में उसी भवन में पहुँचा जो उसने अपने विगत-जन्म में बनवाया था। वर्षाऋतु वहीं बिताकर सेठ ने पारसमणि का टुकड़ा कौने में से निकाला और सुरभिपुर वापिस आ पहुँचा। वहाँ अपना माल बेचकर वापिस जयन्ती नगरी अपने घर आ गया।

उसने पारसमणि के स्पर्श से स्वर्ण बनाया और दिल खोलकर दान आदि धार्मिक कृत्य करने लगा। इस प्रकार के शुभकर्म करता हुआ संवर सेठ एक दिन परलोक सिधार गया।

सेठ की मृत्यु का दुःख सभी नगरवासियों को हुआ। पुत्र सुन्दर तो बेहाल ही हो गया। उसने घर का काम-काज ही छोड़ दिया और शोकाकुल रहने लगा। परिवारी जनों और नातेदारों के बहुत-

कुछ समझाने पर उसने अपना चित्त घर के काम-काज में लगाया। धीरे-धीरे उसका शोक कम होता चला गया और वह व्यापार तथा परिवार में व्यस्त हो गया।

× × × ×

एक दिन उसकी माता ने कहा—

—पुत्र ! तुम्हारे पिताजी तो धर्मशास्त्र सुनने और धर्म-क्रियाओं को करने में सदा तत्पर रहते थे और तुम इन दोनों कामों से उदासीन रहते हो, यह ठीक नहीं है। धर्म के बिना मनुष्य-जन्म निष्फल है। इसलिए किसी विद्वान को बुलाकर धर्म-श्रवण किया करो।

यद्यपि सुन्दर की इच्छा तो नहीं थी किन्तु वह माता की इच्छा का अनादर भी नहीं करना चाहता था, बोला—

—जैसी आपकी इच्छा ! किन्तु मैं तो किसी विद्वान को जानता नहीं, आप ही बुलवा लीजिए।

यह उत्तरदायित्व भी माता ने निभाया और एक विद्वान को शास्त्र-प्रवचन के लिए बुलवा लिया।

विद्वान पंडित आकर बैठा। सामने ही सुन्दर भी आ बैठा। शास्त्र खोलकर पंडितजी सर्वप्रथम महामंत्र नवकार का सस्वर पाठ करने लगे। सुन्दर यद्यपि सामने ही बैठा था किन्तु उसका चित्त लग नहीं रहा था, दृष्टि चारों ओर दौड़ रही थी। एकाएक उसकी नजर एक भिखारी पर पड़ी जो भिक्षा लेने हेतु द्वार के पास आ बैठा था। याचक को देखते ही उसकी भ्रकुटि टेढ़ी हो गई। रोषपूर्वक उच्च स्वर से बोला—

—कौन है, द्वार के पास कौन बैठा है ?

स्वामी के रोष भरे स्वर को सुनकर द्वारपाल शीघ्रता से आकर पूछने लगा—

—सेठजी ! क्या आज्ञा है ?

—तुम तो ऊँघते रहते हो। ये भिखारी लोग आकर, घर को चाहे लूट ले जायँ, तुम्हें क्या मतलब ?

द्वारपाल अचकचा गया। बड़े सेठजी (संवर सेठ) जब तक जीवित रहे कोई याचक खाली हाथ नहीं लौटा और अब भिखारियों को चोर-लुटेरा समझा जा रहा है।

द्वारपाल को खड़ा देखकर सुन्दर का क्रोध और भी भड़क उठा। बोला—

—खड़े-खड़े मेरा मुँह क्या देख रहे हो? निकालो, इसे धक्के मारकर। न जाने कहाँ-कहाँ से आ जाते हैं, मुफ्तखोरे?

स्वामी की आज्ञा का पालन किया सेवक ने। बेचारा याचक निकाल दिया गया। द्वारपाल ने भली-भाँति द्वार बन्द करके साँकल लगा दी।

अब तक पंडितजी मौन होकर बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे कि सेठजी कब शांत हों और कब वे शास्त्र सुनें। सेठजी ने देखा कि द्वार भली-भाँति बन्द हो गया है तो उन्होंने पंडितजी से कहा—

—हाँ पंडितजी! अब सुनाइये।

पंडितजी ने पुनः नवकार मंत्र पढ़ना प्रारम्भ किया। तब तक पुत्रों के रोने-चिल्लाने की आवाज आई। सुन्दर सेठ एकदम दौड़े हुए अन्दर गए तो देखा कि दोनों पुत्र किसी बात पर झगड़कर रो रहे हैं। बड़ी कठिनाई से दोनों में बीच-बिचाव कराया और उन्हें बहलाने लगे। जब बच्चे चुप हो गए तो फिर पंडितजी के सामने आ बैठे और बोले—

—पंडितजी! प्रारंभ करिए प्रवचन।

सेठजी की आज्ञा पाकर पंडितजी प्रवचन प्रारंभ करने ही वाले थे कि ढोल-नगाड़ों की आवाजें आने लगीं। यह क्या, यह क्या—कहते हुए सेठजी उठे और द्वारपाल को आवाज दी। द्वारपाल आकर खड़ा हुआ तो पूछा—

—यह ढोल-नगाड़े क्यों बज रहे हैं?

—जी, राजा की सवारी निकल रही है।

—राजा की सवारी ! तब तो स्वागत करना चाहिए। यह कह कर सुन्दर सेठ दरवाजे के बाहर आ खड़े हुए और सेवकों को स्वागत-सामग्री लाने के लिए आदेश दिया। तत्काल सामग्री आ गई। सेठजी ने राजा का स्वागत-सम्मान किया और अंजलि बाँधकर खड़े रहे। राजा की सवारी जब काफी दूर निकल गई तब अन्दर आए और पंडितजी के सम्मुख आ बैठे।

अब तक के इन लगातार विक्षेपों-व्यवधानों से पंडितजी का चित्त भी दुःखी हो गया था। उन्होंने कहा—

—सेठजी ! शास्त्र सुनते समय इन सांसारिक कार्यों में चित्त लगाना उचित नहीं है। इस प्रकार विचलित हृदय से शास्त्र यदि सुने भी जायँ तो तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता ?

सुन्दर सेठ धनवान थे। उनके घर में पारसमणि का टुकड़ा था। उन्हें यदि गर्व न हो तो और किसे हो ? पंडितजी की बात उन्हें बुरी लग गई। रूखे स्वर में उत्तर दिया—

—तत्त्वज्ञान का फल ही क्या है ? तुम तो बड़े तत्त्वज्ञानी हो फिर भी घर-घर भीख माँगते फिरते हो ?

—ऐसा न कहिए सेठजी ! तत्त्वज्ञान बहुत बड़ी ऋद्धि है।

—क्या ऋद्धि और क्या इसकी विशेषता ? तत्त्वज्ञानी भीख माँगते हैं और जिनको तत्त्वज्ञान नहीं होता वे सुख भोगते हैं। संसार का ऐश्वर्य उनके चरण चूमता है।

—आपकी दृष्टि में तत्त्वज्ञान का कोई मूल्य ही नहीं, शास्त्र पढ़ना और सुनना सब व्यर्थ है।—पंडितजी खिसियाने से होकर बोले।

—और क्या ? पंडित भी मरता है और मूर्ख भी मरता है। पंडित अपने तत्त्वज्ञान के कारण धन की अवहेलना करता हुआ इस जन्म में तो अभाव में जीवन व्यतीत करता ही है और अगले जन्म की कौन जाने ? —सुन्दर सेठ ने अपने मनोभाव व्यक्त कर दिए।

—आप अनर्थी हैं, सेठजी ! आपको शास्त्र-श्रवण और तत्त्वज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा नहीं है । —यह कहकर पंडितजी अपनी पोथी बगल में दबाकर वहाँ से चले आए ।

सुन्दर सेठ ने साधनसंपन्न होते हुए भी तत्त्वज्ञान की अवहेलना (अनर्थित्व) के कारण अपना मानव-जीवन व्यर्थ गँवा दिया ।

—कथारत्नकोष, भाग २, कथानक २२

३

विवेकयुक्त आचरण

[धर्मदेव की कथा]

वईदेसा नगरी का राजा कीर्तिधर अपनी यशरूपी लक्ष्मी के कारण चक्रवर्ती सम्राट के समान सुशोभित था। उसकी पटरानी चन्द्रलेखा भी चन्द्र के समान सुन्दर थी।

सेनापति वईरिषेण ने अपनी कुशल गुप्तचर व्यवस्था द्वारा राज्य का उचित प्रबन्ध कर रखा था। उसे प्रत्येक घटना का समाचार समय पर प्राप्त हो जाता। अतः वह समयोचित कार्यवाही करके शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से चला रहा था। राजा भी उसकी योग्यता एवं कुशलता के कारण उसे अपना सच्चा हितैषी मानता और छोटे भाई के समान ही प्रेम करता।

सेनापति वईरिषेण की प्रियपत्नी थी प्रियसेना और पुत्र का नाम था धर्मदेव ! सभी अपने पूर्वभव में उपार्जित पुण्य के फलस्वरूप सुख-पूर्वक समय व्यतीत कर रहे थे।

× × × ×

एक बार राजसभा में नर्तकियों का मनमोहक नृत्य चल रहा था। नर्तकियाँ अपना नृत्य-कौशल दिखा रही थीं और सभासद मुग्ध होकर देख रहे थे। तभी द्वारपाल ने आकर सूचना दी—

—महाराज की जय हो। ज्योतिषशास्त्र का पारगामी विद्वान शिवभूति अपने शिष्यों सहित अनेक देशों का भ्रमण करता हुआ आपके दर्शनों के लिए आया है।

द्वारपाल के उच्च घोष से नृत्य रुक गया। नर्तकियों के थिरकते अंग स्थिर हो गए। वे वहीं की वहीं खड़ी रह गईं। यह विघ्न राजा कीर्तिधर को खल गया। उसके मुख से निकला—

—जोशी उचित समय पर नहीं आया।

महाराज के कथन का आशय स्पष्ट था। द्वारपाल समझ गया कि जोशी को किसी अन्य समय आने को कह दिया जाय। वह जाने को तत्पर हुआ किन्तु सेनापति वईरिषेण को विद्वान का यह अनादर अच्छा नहीं लगा। उसके विचार से नृत्य-नर्तकी और आमोद-प्रमोद, तथा मनोरंजन की अपेक्षा ज्ञान-विज्ञान का अधिक महत्व था। वह विनम्र स्वर में वोला—

—महाराज ! जोशी अनेक देश-देशान्तरों का भ्रमण करके आया है। अवश्य ही विशेष ज्ञानी होगा। नाच-रंग तो कल भी हो सकते हैं। यदि जोशी चला गया तो उससे भेंट होने का सुयोग सदा के लिए समाप्त हो जायगा।

राजा ने सेनापति की वात सुनी। उसे उसमें सच्चाई लगी। वोला—

—यदि ऐसा है तो जोशी को तुरन्त बुलाओ।

'जो आज्ञा महाराज' कहकर द्वारपाल वाहर निकल गया। नर्तकियों को जाने का संकेत मिल गया। वादित्रों ने अपने वाद्य उठाए। नर्तकियों ने घुंघरू खोले और राजसभा से महाराज को नमन करके सवके सव निकल गए।

जोशी ने प्रवेश करके राजा को आशीर्वाद दिया—

—सूर्य आपको तेज प्रदान करे और चन्द्र सौम्यता, मंगल सभी प्रकार के आनंद-मंगल करे और वुध सद्‌घोष एवं गुरु सुवुद्धि प्रदान करे, शुक्र सौभाग्यकारी हो तथा शनि राहु-केतु आपके शत्रुओं को ही विपत्तिकारी हों। सभी ग्रह आप पर सदा कृपा करें।

नवग्रहरूप इस आशीर्वाद को सुनकर राजा सहित संपूर्ण सभा मौन रह गई; किन्तु वोला कोई भी कुछ नहीं। आदरपूर्वक जोशी को सुखासन पर विठाया गया। राजा ने मधुर स्वर में पूछा—

—जोशीजी ! कुशल तो है ?

—आपके चरणों की कृपा से सब कुशल है। जहाँ आपकी कृपा नहीं वहाँ सब अकुशल ही है।

जोशी के इस उत्तर को सुनकर राजा चकित हो गया। उसने साश्चर्य पूछा—

—यह कैसी अटपटी बात कह रहे हैं, आप ?

—सत्य ही कह रहा हूँ—आपकी कृपा के सिवाय सब अकुशल के कारण हैं।

राजा का आश्चर्य और भी बढ़ गया। वह जोशी की बात का अर्थ भली प्रकार हृदयंगम न कर पाया। अतः पुनः पूछा—

—स्पष्ट बताइये जोशीजी ! अन्य सब अकुशल के कारण क्यों हैं?

जोशी ने बताया—

—महाराज ! सूर्य-चन्द्र आदि सभी ग्रह अपनी स्वाभाविक चाल से विचलित हो गए हैं। परिणामस्वरूप घनघोर मूसलाधार वृष्टि का योग है। इस कारण मुझे तो सर्वत्र अकुशलता दिखाई दे रही है।

ग्रहों के विचलित होने और मूसलाधार वृष्टि पर राजा का ध्यान केन्द्रित हो गया। उसने पूछा—

—कब होगी यह वृष्टि ?

एक मुहूर्त बाद यह नगरी जल से आप्लावित हो जायगी और पानी आपके सिंहासन तक टक्करें मारेगा।

इस बात को सुनकर संपूर्ण सभासदों के हृदय में भय की ठंडी लहर दौड़ गई। सहज ही उनकी दृष्टि आकाश की ओर उठी। किन्तु वहाँ मेघों के नाम पर एक छोटी-सी बदली थी। सभासदों का भय हास्य में परिणत हो गया। सभी हँसते हुए कहने लगे—

—यह छोटी-सी बदली और मूसलाधार बरसात ! जोशीजी धन्य हैं आप और आपकी गणना ?

जोशी ने दृढ़स्वर में उत्तर दिया—

—एक मुहूर्त बीतने दीजिए तब मेरी विद्या पर हँसने वाले आप सभी चमत्कृत हो जायँगे।

जोशी की दृढ़ता का इच्छानुकूल प्रभाव हुआ। सभी मौन हो गए। राजसभा में सन्नाटा छा गया। सभी की दृष्टि आकाश की ओर उठ गई। वे टकटकी लगाकर देखने लगे। एक हाथ विस्तार वाली छोटी सी वदली विस्तृत होने लगी। देखते ही देखते उसका आकार इतना बढ़ा कि संपूर्ण आकाश ढक गया। सूर्य का तेजस्वी विम्व छिप गया। अन्धकार-सा फैल गया। तभी कदली वृक्ष के तने के समान मोटी जल की धार गिरने लगी। मानो वादल फट ही गया हो अथवा किसी दैत्य ने आकाश में जल से भरा घड़ा ही उलट दिया हो। पृथ्वी से आकाश तक जलस्तंभ-सा वन गया। सभासद अपने-अपने स्थानों से उठकर भागते दिखाई दिए। राजा ने जो देखा तो संपूर्ण नगर, ऊँचे-ऊँचे भवन जल में डूवे दिखाई पड़े। कुछ ही देर में सभाभवन में भी पानी भर गया और राजसिंहासन के पाए भी जल-मग्न हो गए।

राजा को निश्चय हो गया कि जोशी का वताया हुआ प्रलयकाल आ गया है। वह चकित होकर इधर-उधर आश्रय की खोज में दृष्टि दौड़ाने लगा। तभी लकड़ियों के एक मजवूत वेड़े को खेता हुआ कोई पुरुष आया और राजा से वोला देव! इस वेड़े पर चढ़ आइये। प्राण वचाने के लिए राजा सिंहासन पर खड़ा हुआ और समीप के स्तंभ का सहारा लेकर पाँव आगे वढ़ाने लगा।

देखा तो न वहाँ जल था, न वेड़ा और न कोई खेवनहार! संपूर्ण सभासद अपने आसनों पर यथावस्थित थे। अंग संचालन से इन्द्रजाल टूट चुका था। अनायास ही राजा के मुख से निकला—यह क्या?

—यह सव इन्द्रजाल था, मेरी रची हुई माया। ऐन्द्रजालिक के रूप में आप मुझे प्रवेश नहीं करने देते इसलिए जोशी वनकर आया। मेरा अपराध क्षमा हो। —झुककर शिवभूति ने प्रार्थना की।

शिवभूति की इस विचित्र माया से सभी चकित थे। राजा प्रसन्न होकर वोला—

—अच्छी माया दिखाई तुमने ? सभी को आश्चर्य में डाल दिया।

और शिवभूति को बहुत-सा धन आदि देकर सम्मानपूर्वक विदा कर दिया।

ऐन्द्रजालिक शिवभूति तो चला गया किन्तु सेनापति वईरिषेण के हृदय पर गहरी छाप छोड़ गया। सेनापति को यह जगत भी इन्द्र-जाल के समान ही लगने लगा। उसने अंजलि बाँधकर राजा से विनती की—

—महाराज ! यह दृश्य देखकर मुझे संसार से विरक्ति हो गई। आप मुझे आज्ञा दीजिए जिससे कि मैं तापस बनकर अपना जन्म सफल कर सकूँ।

सेनापति की विनती सुनकर महाराज चौंके। उनके मुख पर चिन्ता व्याप्त हो गई। बोले—

—सेनापति ! ऐसा निर्णय मत करो। यह तमाशे तो होते ही रहते हैं।

—नहीं महाराज ! अब तो आप मुझे आज्ञा ही दें।

वईरिषेण की दृढ़ता देखकर महाराज उदास हो गए किन्तु उन्होंने उसे रोकना उचित न समझा—

—तुमको मैंने छोटे भाई के समान ही प्रेम किया है। यदि तुम मुझे छोड़कर जाना ही चाहते हो तो रोकूँगा नहीं किन्तु कुछ माँगो।

—क्या माँगूँ ? आपने मुझे सब कुछ दिया। मेरा जीवन सुख से व्यतीत हुआ। अब कोई इच्छा शेष नहीं है।

— इस विदा की बेला में कुछ तो कहो।

राजा का अति आग्रह देखकर सेनापति ने कहा—

—स्वामी ! यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो मेरे पुत्र धर्मदेव को मेरे स्थान पर नियुक्त कर दीजिए।

महाराज ने सेनापति की इच्छा स्वीकार कर ली। वईरिषेण तापस-दीक्षा ग्रहणकर तप करने लगा।

× × × ×

धर्मदेव सेनापति बन गया। कुछ समय तो सुखपूर्वक बीता किन्तु

बाद में सिंहल देश का अधिपति कीर्तिधर राजा की सीमाओं में लूट-मार मचाने लगा। इस समाचार से राजा चिंतित हो गया। तभी धर्मदेव ने कहा—

—महाराज ! आप क्यों चिन्ता करते हैं ? मुझे आज्ञा दीजिए।

—हाँ अब तुम्हारा ही सहारा है। जिस प्रकार तुम्हारे पिता ने मेरी कीर्ति को अक्षुण्ण रखकर मेरा कीर्तिधर नाम सार्थक किया था वैसा ही तुम भी करो।

राजा की आज्ञा से चतुरंगिणी सेना सजाकर धर्मदेव चल दिया। सिंहलनरेश ने सन्धि करना उचित समझा। उसने अपने मन्त्रियों को सन्धि प्रस्ताव लेकर उसके शिविर में भेजा। मन्त्रियों ने धर्मदेव को नमस्कार करके विनय की—

—सेनापतिजी ! हमारा राजा आपसे सन्धि करना चाहता है। उसने भेंटस्वरूप यह हाथी एवं रत्न आदि भेजे हैं। इन्हें स्वीकार कीजिए।

मंत्रियों के इन विनीत वचनों को धर्मदेव ने सिंहलनरेश की दुर्बलता समझा। उसे स्वयं पर अभिमान हो आया। दर्पपूर्वक बोला—

—तुम्हारे राजा ने क्या मुझे बच्चा समझ रखा है जो यह खेलने के लिए कंकर-पत्थर और मन-बहलाने के लिए हाथी-घोड़े आदि भेज दिए।

मंत्रियों को ऐसे विचित्र उत्तर की आशा नहीं थी। उसकी विवेकहीनता पर उन्हें हँसी आई किन्तु हँसी रोककर गम्भीरतापूर्वक बोले—

—नहीं सेनापतिजी ! सम्माननीय अतिथियों को बहुमूल्य भेंट दी ही जाती है।

—ओह ! तो आप मुझे सम्माननीय समझते हैं। पीछे से राज्य में लूट-मार करते हैं और सामने आने पर सम्मान। विचित्र है आपका व्यवहार !

—हम आपसे सन्धि करने आए हैं ?

—क्यों ? अब आपके राजा का पसीना छूटने लगा क्या ? युद्ध से भयभीत हो गए क्या ?

धर्मदेव की बात खलने वाली थी किन्तु मंत्रियों की इच्छा संधि करने की थी इस कारण अपने राजा के प्रति अपमान के कड़वे घूंट को पी गए और मुख पर शिकन भी न आने दी। शांत स्वर में बोले—

—भय की बात नहीं। शांति में ही सबका कल्याण है, भला है। आपका भी, प्रजा का भी और हमारा भी।

- शांति की पुकार कायर किया करते हैं फिर भी यदि आपका राजा संधि करना ही चाहता है तो लूटा हुआ सारा माल वापिस करे और मेरा सेवक बन कर रहे।

कायरता का आरोप किसी भी पुरुष पर भयंकर आक्षेप है। वह इसको सह नहीं सकता किन्तु मंत्रियों ने एक प्रयास और किया—

—सेनापतिजी ! संधि का अर्थ दासता नहीं होता। इसमें दोनों पक्षों के सम्मान की रक्षा की जाती है। हम ऐसी ही संधि की आशा लेकर आए हैं। आप उदारतापूर्वक विवेक-बुद्धि से विचार करके हमारा प्रस्ताव स्वीकार कीजिए।

—तो हम अविवेकी और बुद्धिहीन हैं। अब तो युद्धभूमि में ही अपनी बुद्धि का परिचय देंगे। —चिढ़कर धर्मदेव ने कहा और अपने सेवकों द्वारा उनको अनादरपूर्वक निकलवा दिया।

सेनापति धर्मदेव के मन्त्री (सलाहकार) यह तमाशा चुपचाप बैठे देख रहे थे। एकान्त हो जाने पर उन्होंने निवेदन किया—

—आपको संधि स्वीकार कर लेनी चाहिए थी। इससे दोनों राज्यों में मित्रता स्थापित हो जाती और व्यर्थ की जन-हानि न होती।

—आप लोग बात का रहस्य तो समझते नहीं और व्यर्थ ही

आक्षेप करते हैं। —धर्मदेव ने रोषपूर्वक अपने मन्त्रियों को फटकार दिया।

मंत्रीगण समझ गए कि धर्मदेव बुद्धिहीन है। अतः उसके साथ तो हाँ में हाँ मिलाना ही उचित है। ऐसे बुद्धिहीन को उचित सलाह देना भी व्यर्थ है क्योंकि वह मानेगा तो है नहीं – व्यर्थ ही चिढ़ेगा और कुपित होगा। उन्होंने उससे क्षमा माँगी और आगे के लिए आज्ञापालन का वचन दिया। धर्मदेव का क्रोध उतर गया। वह प्रसन्न हो गया।

× × ×

सिंहलनरेश के मन्त्रियों ने जब अपने स्वामी को सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया तो वह समझ गया कि अभिमानी और बुद्धिहीन सेनापति से पाला पड़ा है। इसके पास शक्ति भी अधिक है अतः युक्ति से काम लेना चाहिए। उसने अपने मन्त्रियों से सलाह की और एक योजना बनाकर गुरुचारंभ सेनापति से कहा—

—भद्र ! तुम अश्वारोही दल लेकर शत्रु सेना के समक्ष जाओ और बाणवर्षा करते हुए गोदावरी के उस विषम प्रदेश तक पीछे हट आना जहाँ कि दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे टीले हैं। उस प्रदेश में चारों ओर से घेरकर इस अभिमानी धर्मदेव को उचित सबक सिखाया जायगा।

'जो आज्ञा' कहकर सेनापति गुरुचारम्भ चला गया और सिंहलनरेश की योजना के अनुसार धर्मदेव की सेना पर आक्रमण कर दिया। धर्मदेव ने भी सम्पूर्ण सेना लेकर उसका सामना किया। योजनानुसार गुरुचारम्भ पीछे हटता गया और आवेश में धर्मदेव आगे बढ़ता चला गया। धर्मदेव की सम्पूर्ण सेना गोदावरी के विषम प्रदेश में जा पहुँची। सिंहलनरेश की योजना पूर्ण हो चुकी थी।

विषम प्रदेश में आते ही स्थिति पलट गई। गुरुचारम्भ की सेना पीछे हटने के बजाय जमकर लड़ने लगी। दोनों ओर के टीलों से भी बाणवर्षा होने लगी। पीछे से लौटने का मार्ग स्वयं सिंहलनरेश ने

अवरुद्ध कर दिया। धर्मदेव की सेना चारों ओर से घिर गई। विषम भूमि पर हाथी तो क्या मनुष्य भी सीधे नहीं खड़े रह पाते थे तो युद्ध क्या करते? भयंकर पराजय हुई धर्मदेव की। बड़ी कठिनाई से वह कुछ सुभटों के साथ प्राण बचाकर निकल पाया और अपने नगर की ओर चल दिया।

उसकी पराजय की सूचना केरलनरेश को भी मिल चुकी थी। संसार का एक अद्‌भुत रिवाज है—गिरे हुए को ठोकर लगाना और उठते हुए को शीश झुकाना। सेनापति का पराभव करने की उसने भी एक योजना बना ली।

केरलनरेश ने सीमा पर से जाते हुए सेनापति धर्मदेव को अपने महलों में बुलाया और उसका खूब सत्कार किया। धर्मदेव फूल उठा। केरलनरेश ने एकान्त में उससे कहा—

—यहीं समीप ही महाबल नाम का एक सामंत है। उसके पास बहुत बड़ा खजाना है। मैं अकेला तो उसे जीत नहीं सकता। यदि अपने सुभटों के साथ आप सहायता करें तो हम दोनों मिलकर उसे परास्त करके खजाना छीन लेंगे।

योजना लुभावनी थी। धर्मदेव ने अपने सुभटों से सलाह किए बिना ही स्वीकृति दे दी। दोनों की सम्मिलित सेना ने प्रयाण किया। बीहड़ वन में पहुँचते ही केरल की सेना ने धर्मदेव के सुभटों को चारों तरफ से घेर लिया और मार-काट करने लगे। सलाहकारों और सुभटों ने जब यह स्थिति देखी तो युद्ध करने के बजाय इधर-उधर खिसक कर अपने प्राण बचाए। धर्मदेव भी प्राण बचाकर भागा।

मंत्रियों और सुभटों ने अपने नगर पहुँच कर राजा कीर्तिधर को सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने शोकपूर्ण स्वर में कहा—

—हाय! ऐसे विवेकी पुरुष का पुत्र इतना मूर्ख! सच है—दीपक ते काजल पड़े।

× × ×

इधर धर्मदेव अपने भाग्य को दोष देता हुआ जंगलों में भटकने

लगा। उसने विचार किया—यह पराजित मुख लेकर अपने नगर को क्या जाऊँ? सभी मुझे धिक्कारेंगे। मेरा मान-सम्मान तो धूल में मिल ही चुका है। ऐसा विचार कर उसने नगरी में जाने का विचार त्याग दिया। किन्तु वनों में भी कब तक भटकता रहता? आखिर उसे अपने कुलधर्म—तापसधर्म की याद आई।

थका-माँदा भूखा-प्यासा एक तापस आश्रम में जा पहुँचा। कुलपति ने फल-फूल खिलाकर उसे स्वस्थ किया।

धर्मदेव कुछ दिनों तक तापस आश्रम में रहता हुआ भावी जीवन के बारे में ऊहापोह करता रहा। सभी प्रकार से विचार करने के बाद उसने तापस आश्रम में ही रहना ठीक समझा। हारे को हरिनाम ही अन्तिम आश्रय होता है। धर्मदेव ने भी कुलपति से प्रार्थना करके तापस-दीक्षा ग्रहण कर ली।

अपने कुलधर्म की शरण में जाकर भी धर्मदेव न सुधरा। विवेकान्धता ने वहाँ भी उसका पीछा न छोड़ा। तापसी दीक्षा लेकर वह भाँति-भाँति के कठिन तप करने लगा। उसने अपनी शक्ति से अधिक तप-भार अपने ऊपर ले लिया। वह भूल गया कि तप और त्याग शक्ति के अनुसार ही उचित होते हैं। परिणाम वही हुआ जो होना था। उसका शरीर सूखकर काँटा मात्र रह गया। उसमें उठने-बैठने की शक्ति भी न रही।

साथी तापस उसे समझाते तो वह उनकी एक न सुनता। उसे तो शीघ्रातिशीघ्र ऋद्धि-सिद्धि पाने की धुन लगी हुई थी। अन्य तापसों ने कुलपति को सूचना दी तो उन्होंने स्वयं आकर समझाने का प्रयास किया—

—भद्र! तप भी शक्ति के अनुसार करना चाहिए। तुम्हारा यह कार्य तप न होकर आत्म-घात है। इस प्रकार आत्मघात करने से तुम स्वर्ग तो जा ही न सकोगे वरन् तुम्हारी आत्मा अंधकार के गर्त में डूब जायगी। इसलिए अपनी शक्ति से ऊपर इस कठिन तप को छोड़ो और

उचित रूप से शरीर-रक्षा करते हुए योग व समाधि का अभ्यास बढ़ाओ।

कुलपति के उपदेश का भी धर्मदेव पर कोई प्रभाव न पड़ा वरन् उसने अनशन प्रारंभ कर दिया।

इस प्रकार उसने अपनी विवेकहीनता से न सांसारिक कार्यों में ही सफलता पाई और न धर्मकार्य में ही। व्यर्थ ही स्वयं भी कष्ट उठाया और अन्यों को भी पीड़ा में डाला। अतः सम्यक्त्वी को अपनी शक्ति, देश-काल आदि का उचित ज्ञान होना चाहिए और उसे विवेक-पूर्वक धर्म का आराधन करना चाहिए अन्यथा वह न लौकिक जीवन को सुखी बना सकता है और न पारलौकिक जीवन को ही।

—कथारत्नकोष, भाग २, कथानक २३

❀

हमारा भी अधिकार है। पर तुम्हें सोचने की चिन्ता ही क्यों हो? फूँक डालो, आग लगा दो धन में।—दूसरे भाई ने क्रोध प्रकट किया।

—एक साधारण गवैये के दो चार सुरीले वोलों का इतना बड़ा इनाम! वाप रे वाप! अभी तक तो मैंने कभी नहीं सुना। तुमने तो कम ही दिया। समस्त संपत्ति दे देते और हम लोग याचक की भाँति दर-दर भीख माँगते। तव तो तुम्हारी दानशीलता का यश फैलता। —तीसरे ने कटूक्ति की।

भाइयों के क्रोध, व्यंगवाण और कटूक्तियों से विजयदेव रुआँसा हो उठा। उसने क्षमा माँगते हुए कहा—

—मेरा अपराध क्षमा करो। अव कभी ऐसी गलती नहीं करूँगा।

किन्तु भाइयों का रोप कम न हुआ। वे तिरस्कार करते ही रहे। अन्त में जव उससे न सहा गया तो उसने पिता के चरण पकड़ कर कहा—

—पिताजी! मुझे देशान्तर जाने की आज्ञा दीजिए।

पुत्र के इन शव्दों को सुनकर पिता का हृदय भर आया। यों तो पिता को अपने सभी पुत्र प्यारे होते हैं किन्तु छोटा पुत्र कुछ अधिक ही लाड़ला होता है। पिता ने अन्य पुत्रों को डाँटकर चुप कर दिया? और वोला—

—पुत्रो! अव चुप हो जाओ। विजयदेव से कुछ मत कहो। वह तुम्हारा छोटा भाई है। अपनी भूल की वार-वार क्षमा माँग रहा है। भूल किससे नहीं होती? और विजयदेव तुम भी परदेश जाने का विचार छोड़ दो। जव तक मैं जीवित हूँ कोई कहीं मत जाओ। सव यहीं सुख से रहो।

पिता के इन शव्दों ने विवाद शांत कर दिया। चारों पुत्र उठ कर चले गए। किन्तु पिता का हृदय अशांत हो गया। उसे इस विवाद से भाइयों के विखराव-अलगाव का स्पष्ट आभास हो गया। उसने चारों पुत्रों के लिए नगर में अलग-अलग दुकानें खुलवा दीं। चारों अपनी-अपनी दूकान पर वैठकर व्यापार करने लगे और आय-व्यय

का सही-सही हिसाव-किताव मास के अन्त में पिता को जा दिखाते। पिता उनकी लगन, परिश्रम और कुशलता से संतुष्ट था। चारों का व्यापार उचित लाभ में चल रहा था।

एक दिन दुकान पर वैठै-वैठे विजयदेव ने विचार किया कि इस तरह से तराजू-वाँट तोलते-तोलते तो सारी जिन्दगी ही बीत जायगी फिर भी यथेष्ट धन का संचय न हो सकेगा। इस तोला-नापी के व्यापार में लम्वा मुनाफा है ही कहाँ ? परदेश चलकर अपने भाग्य की परीक्षा करनी चाहिए।

यह सोचकर उसने पाथेय लिया और उत्तरापथ की ओर चल दिया। मार्ग में उसे एक सार्थ मिला। वह उसी के साथ-साथ चलने लगा। भयानक वन में अचानक ही सार्थ पर वज्रपात सा हो गया। अनेक भीलों ने उस पर आक्रमण कर दिया। वाहनों को लूट ले गए और मानवों को वन्दी वना लिया। विजयदेव भी वन्दी हो गया। अन्य लोगों को तो उनके सम्वन्धियों ने द्रव्य देकर मुक्त करा लिया किन्तु विजयदेव को कौन मुक्त कराये ? वह वन्दीगृह में ही पड़ा रहा। उसे जीवित रहने मात्र के लिए मुट्ठी भर जूठा-कूटा भोजन मिल जाता।

विजयदेव अपनी इस दुर्दशा से वहुत दुखी हुआ। वहाँ से निकलने का उपाय सोचने लगा। इतने में उसे अपने पहरेदार का पुत्र दिखाई दे गया। उस लड़के को वायु का महारोग था। विजयदेव को अपने मुक्त होने का उपाय सूझा। वह चिन्तित स्वर में बोला—

—भद्र ! तुम्हारा पुत्र इतनी पीड़ा पा रहा है फिर भी तुम इसकी तरफ ध्यान क्यों नहीं देते हो ?

मानव का स्वभाव होता है कि जव कोई उसके हित की वात करता है तभी वह उसकी तरफ ध्यान देता है। मनुष्य चाहे नगर-निवासी सभ्य हो अथवा असभ्य-वर्वर उसे अपनी सन्तान से विशेष

मोह होता है। पहरेदार ने भी विजयदेव की ओर ध्यानपूर्वक देखा और कहा—

—बहुत सी औषधियाँ कराई किन्तु कोई लाभ न हुआ ?

—म्लेच्छ देश में रहने वाले शबरमुनि इस रोग के लिए अचूक औषधि बताते हैं। उससे अनेकों को लाभ हुआ है।

—वह औषधि मुझे भी बता दो। —पहरेदार की उत्सुकता जाग्रत हो चुकी थी।

विजयदेव ने बताया—

—छाया तरु, श्रीफल, फलिनी का कन्द और कन्दोरु इन चारों को खूब उबाल कर पीया जाय तो वायु रोग मिट जाता है।

—यह औषधि है तो ठीक किन्तु मैं तो इनको पहिचान भी नहीं पाऊँगा। —पहरेदार ने बताया।

—तो मैं आगे क्या कहूँ ? विजयदेव बोला—किन्तु इतना कह सकता हूँ कि यदि अभी उपचार न किया गया तो रोग असाध्य हो जायगा और फिर कोई भी औषधि काम नहीं कर सकेगी।

—तुम्हारी बात बिल्कुल सत्य है। —पहरेदार ने कहा और अपने पुत्र की भावी दशा की कल्पना करके काँप गया।

अवसर पाकर पहरेदार ने अपनी पत्नी से सलाह की। माता का पुत्र के प्रति विशेष प्रेम होता ही है। उसने उपाय बताया कि विजयदेव को किसी आदमी के साथ औषधि लेने भेज दो। एक दिन की तो बात ही है। औषधि ले आवे तो फिर बन्द कर देना। किसी को कुछ भी पता न लगेगा।

पहरेदार ने पत्नी की सलाह के अनुसार विजयदेव को एक आदमी के साथ भेज दिया। विजयदेव एक पहाड़ी निकुंज में जा पहुँचा और वहाँ इधर-उधर औषधियाँ ढूँढने लगा। तब तक सूर्य अस्ताचल की ओट में चला गया और सर्वत्र अन्धकार व्याप्त हो गया। औषधि खोजने का काम दूसरे दिन पर टालकर दोनों लेट गए। रात्रि को जब दूसरा आदमी सो गया तो विजयदेव वहाँ से भाग निकला।

प्रातः उठने पर जब उस मनुष्य को विजयदेव कहीं भी न दिखाई दिया तो वह निराश होकर वापिस चला गया।

× × ×

जंगल से निकलकर विजयदेव दशपुर नगर पहुँचा। वहाँ एक वणिक की दूकान पर जा बैठा और उसे पुड़िया आदि बाँधने में सहायता देने लगा। वणिक ने देखा कि आदमी काम का है तो ५ सोने की मोहर प्रतिमास पर नौकर रख लिया। कुछ मास तो उसने वहाँ काम किया और जब उसके पास ५० मोहर हो गईं तो उस वणिक से विदा लेकर आगे चल दिया।

विजयदेव दशपुर से चलकर गजपुर आ गया। वहाँ घूमते-घामते उसकी भेंट एक जौहरी से हो गई। जौहरी ने उसे धनवान परदेशी समझा अतः एकान्त में ले जाकर एक माणिक्य दिखाया। माणिक्य की चमक देखकर विजयदेव की आँखें चुँधियाँ गईं। उसने उस रत्न की विशेष किरणें देखीं तो उसे विश्वास हो गया कि यह बहुमूल्य है। उसे लगा कि बिना ऐसे विशेष रत्न को प्राप्त किए जीवन ही व्यर्थ है। किन्तु मिले कैसे ? यह सोचकर ही वह उदास हो गया।

जवाहरात का कुशल पारखी जौहरी विजयदेव के मुख पर आते-जाते भावों का ध्यानपूर्वक अध्ययन कर रहा था। उसकी उदासी उसे रहस्यमय लगी। उसने पूछा—

—विजयदेव ! पहले तो तुम इस माणिक्य को देखकर हर्षित हुए और फिर उदास हो गए, क्या कारण है ?

विजयदेव ने बात को टालते हुए कहा—

—समय आने पर इसके गुण-दोष आदि सम्पूर्ण हकीकत बता दूँगा।

बात कुछ इस ढंग से कही गई कि और भी रहस्यपूर्ण हो गई। जौहरी ने बार-बार पूछा किन्तु विजयदेव साफ टाल गया। उसी समय राजा का हाथी अपना खूँटा उखाड़ कर भाग निकला। उससे

भयभीत होकर सभी लोग इधर-उधर चले गए। विजयदेव भी दूर खिसक गया।

विजयदेव कुछ दिनों बाद उस जौहरी की दासी से मिला और पुरस्कार आदि देकर उससे माणिक्य की हकीकत जानने का प्रयास किया। दासी इनाम पाकर प्रसन्न हो ही गई थी। उसने बताया—सेठजी एक बार भीलों की पल्ली में गए थे। उस भील ने किसी सार्थवाह का सार्थ लूटकर यह माणिक्य प्राप्त किया था और सेठजी कितनी ही सोने की मोहरें देकर इसे ले आये थे।

विजयदेव को माणिक्य का पूरा वृत्तान्त ज्ञात हो ही चुका था। वह वहाँ से चल दिया और उसे पाने का उपाय सोचता हुआ जौहरी की दुकान पर पहुँचा। जौहरी ने उसे उचित आसन पर बिठाया और माणिक्य की चर्चा छेड़ दी।

—भद्र ! मैंने तुमसे पहले भी उस रत्न के गुण-दोष पूछे, किन्तु तुम टाल गए अब तो बताओ।

—सेठजी ! जो वस्तु कठिन परिश्रम से प्राप्त हुई हो उसके गुण-दोषों पर विचार करना गंभीर पुरुषों को शोभा नहीं देता। गुण-दोषों का विचार तो वस्तु को लेने से पहले ही किया जाना चाहिए। —विजयदेव ने गंभीरतापूर्वक कहा। किन्तु कहने का ढंग ऐसा था कि सेठ के हृदय में शंका उत्पन्न हो गई। उसे लगा जैसे इस माणिक्य में कुछ रहस्यमय दोष है। वह विनती-सी करता हुआ बोला—

—मैं बार-बार तुमसे पूछता हूँ और तुम स्पष्ट नहीं बताते।

—अब बताने से लाभ भी क्या ? रत्न इतना सुन्दर है कि इसका त्याग संभव ही नहीं।

—कितना भी सुन्दर और बहुमूल्य क्यों न हो यदि उसमें कोई दोष है तो तुरन्त त्यागा जा सकता है। सेठ ने शंकित हृदय से कहा।

विजयदेव समझ गया कि सेठजी का हृदय इतना शंकित हो गया है कि वे इसे कम मूल्य पर भी बेचने को तैयार हो जाएँगे। वह गंभीरतापूर्वक बोला—

—सेठजी। आप आग्रह ही करते हैं तो सुनिए।

मैं एक सार्थ के साथ चला आ रहा था। सार्थपति का मुझसे वहुत प्रेम हो गया। उसने मुझे यही माणिक्य दिखाया। इसकी चमक देखकर मैं चमत्कृत हो गया। तभी वन के बीचोंबीच एक पल्लीपति ने उस सार्थ को लूट लिया और हम लोगों को वन्दी वना लिया। उसने यह माणिक्य भी सार्थवाह से छीन लिया। पल्लीपति ने हम दोनों को वहुत कष्ट दिए। वड़ी कठिनाई से हम उसके वन्दी-गृह से मुक्त हो सके।

इस माणिक्य को देखकर तो मुझे हर्ष हुआ किन्तु इसके संसर्ग से भोगे हुए कष्टों और विपत्ति का ध्यान आते ही मेरा मुख म्लान हो गया।

विजयदेव के मुख से यह हकीकत सुनकर जौहरी की शंका विश्वास में वदल गई। उसे निश्चय हो गया कि यह माणिक्य अशुभ है। इसे अपने पास नहीं रखना चाहिए। किसी न किसी प्रकार वेच देना ही उचित है। उसने विजयदेव से कहा—

—भद्र ! इस अशुभ रत्न को अव अपने पास रखना उचित नहीं है। तुम इसे वेच दो।

—सेठजी ! मैं वेच तो दूँगा किन्तु रत्न वहुमूल्य है। कहीं कीमत कम मिली तो आपको दुःख होगा। इसलिए यह काम आप ही करें तो उचित रहेगा।

—कीमत की कोई वात नहीं। चाहे कितनी भी मिले, मुझे कोई दुःख नहीं होगा। इस अशुभ रत्न को अव मैं फूटी आँख भी नहीं देखना चाहता। पास रखने का तो प्रश्न ही नहीं है।

यह कहकर जौहरी ने वह माणिक्य जवरदस्ती उसको सौंप दिया। विजयदेव 'न, न' करता रहा किन्तु सेठ ने उसकी एक न सुनी।

कई दिन तक विजयदेव इधर-उधर घूमता रहा और एक दिन सेठजी को ५० सोने की मोहरवाली थैली देकर वोला—

—सेठजी, वह रत्न ५० सोने की मोहरों के बदले बिक गया है। यह अपनी कीमत सँभालिए।

जौहरी ने मोहरों की थैली सँभाली और प्रसन्न होकर बोला—

—भद्र ! तुमने मेरा बहुत बड़ा बोझा उतार दिया है। तुम्हारा अहसान मैं सदा मानूंगा। मेरे सिर से एक बहुत बड़ा संकट टल गया।

सेठजी से विदा लेकर विजयदेव चला आया। दोनों ही प्रसन्न थे। सेठजी तो इसलिए कि अशुभ रत्न के चले जाने से संकट टल गया और विजयदेव इसलिए कि बहुमूल्य रत्न कौड़ियों के मोल मिल गया। दोनों के लिए ही सौदा लाभ का रहा।

काम बन जाने के बाद विजयदेव ने वहाँ रुकना उचित न समझा। उसने तुरन्त एक कोपीन सिलवाई और गुप्त जेब लगवा कर उसके अन्दर उस माणिक्य को छिपाकर रख लिया। हाथ में एक दंड लिया, कोपीन धारण की और अंग में भभूत रमाकर त्रिदण्डी साधु बनकर अर्धरात्रि को ही गजपुर से निकल गया। धन भय का प्रमुख कारण होता है इसलिए उसने सीधा मार्ग छोड़ा और आढ़ा-टेढ़ा घूमता-घामता पाटलिपुर जा पहुँचा।

जिस समय वह पाटलिपुर के राजमार्ग पर चला जा रहा था उसी समय वेश्या मयणमंजूषा (मदनमंजूषा) सोलह शृंगार करके अपने गवाक्ष (गौख) में बैठी आते-जाते पथिकों को निहार रही थी। उसकी दृष्टि त्रिदंडी साधु विजयदेव पर पड़ी। युवावय, सुघड़ शरीर, सुन्दर अंगोपांग—वेश्या की दृष्टि मुख से फिसलती हुई कोपीन (लंगोट) पर जा पड़ी। आखिर वेश्या ही तो थी वह। सूर्य की किरणें भी त्रिदण्डी के सम्पूर्ण शरीर पर पड़ रही थीं। उसका अंग-प्रत्यंग चमक रहा था किन्तु लंगोट कुछ अधिक ही प्रकाशित हो रहा था। वहाँ से लाल-रंग का प्रकाश-पुंज झिलमिला रहा था।

वेश्या की दृष्टि जम कर रह गई। ज्यों-ज्यों त्रिदण्डी समीप आता गया उसे वह रक्तिम प्रकाश स्पष्ट दिखाई देता गया। उसके मानस

में विचार आया—या तो इसकी कोपीन में कोई बहुमूल्य रत्न छिपा हुआ है अथवा कोई महान दिव्य मंत्र इसे सिद्ध है। इस छोटी वय में ऐसा दिव्य मत्र—वेश्या ने इस विचार को झटक दिया और उसने यही धारणा बनाई कि अवश्य ही इसके पास कोई अमूल्य मणि है जिसकी आभा इसकी कोपीन में छिप नहीं रही है।

गणिका का हृदय मणि लेने को मचल उठा। उसने मन ही मन योजना बनाई और गवाक्ष से उठकर द्वार पर आ खड़ी हुई। ज्योंही विजयदेव समीप आया आगे बढ़कर बड़े मधुर स्वर से बोली—

—साधुजी ! यहीं विश्राम करके मुझ पर अनुग्रह कीजिए।

विजयदेव गणिका के मधुर स्वरों के जाल में फँस गया। उसने उत्तर दिया—

—हमको क्या ? जैसा भवन वैसा वन ! आज तुम्हारे यहाँ ही विश्राम किये लेते हैं।

यह कहकर विजयदेव गणिका मयणमंजूषा के साथ ही अन्दर चला गया। गणिका के संकेत पर दासियों ने उसे अच्छी तरह स्नान आदि कराया। भली-भाँति देह का अभ्यंगन किया। इस सम्मान से विजयदेव फूला नहीं समा रहा था। वह स्वयं को धन्य समझ रहा था। उधर मयणमंजूषा ने अपनी पुत्री मदनसुन्दरी को एकान्त में बुलाकर कहा—

—पुत्री ! इस पुरुष के पास कोई दिव्य मणि है, इसलिए इसकी सेवा खूब मन लगाकर करना।

समझदार पुत्री अपनी माता का संकेत समझ गई। ज्योंही विजयदेव स्नान आदि से निवृत्त हुआ, मदनसुन्दरी ने उसकी सेवा का भार अपने ऊपर ले लिया। सुस्वादु षट्रस भोजन कराया और हास्य-विनोद से उसे मोहित कर लिया। उसके साथ ही पलंग पर लेट गई।

कुछ ही देर में मदनसुन्दरी तो सो गई किन्तु विजयदेव अपने भाग्य की सराहना करता हुआ भविष्य के ताने-बाने बुनता रहा। इन मधुर विचारों में ही उसे निद्रा ने आ दबोचा।

अर्धरात्रि को मयणमंजूषा ने दण्ड पर लटकी हुई उसकी कोपीन की तलाशी ली तो बहुमूल्य माणिक्य उसे मिल गया। वह चुपचाप दवे पांव उसे लेकर अपने कक्ष में आ गई।

प्रातःकाल मदनसुन्दरी तो उठकर चली आई किन्तु विजयदेव पलंग पर सोता रहा। कुछ समय पश्चात् वह उठा और सर्वप्रथम उसने अपना माणिक्य देखा। किन्तु वह तो गायब हो चुका था। विजयदेव ने इस आदर-सत्कार का रहस्य जान लिया। वह समझ गया कि गणिका ने माणिक्य लेने के लिए ही यह कपटजाल रचा था। अब शोर मचाने से कोई लाभ नहीं। युक्ति से ही पुनः प्राप्त करना उचित रहेगा। यह सोचकर उसने मन ही मन एक योजना बनाई और पलंग पर लेटकर खर्राटे भरने लगा।

मयणमंजूषा ने अपनी पुत्री से पूछा—

—बेटी! परदेशी क्या कर रहा है?

—सो रहा है, माँ!

—उसे जगाकर गंगा किनारे ले जाओ और स्नान आदि कराके विदा कर दो।

—इतनी जल्दी!—मदनसुन्दरी ने साश्चर्य माँ से कहा।

—अब उस भिखारी का इस घर में क्या काम?—यह कहकर माँ ने बेटी को वह माणिक्य दिखा दिया।

पुत्री ने माँ की सीख मानी और विजयदेव को गंगास्नान के लिए ले गई। तीर्थस्थान पर स्नानार्थियों के चारों ओर पंडों-ब्राह्मणों की भीड़ एकत्र हो ही जाती है। विजयदेव और मदनसुन्दरी के चारों ओर भी पंडे जुड़ आए और दान आदि का आग्रह करने लगे। विजय-देव ने अवसर का लाभ उठाया और ब्राह्मणों से बोला—

—मैं आज बहुत प्रसन्न हूँ। आप लोग उचित विधि से सभी क्रियाएँ कराइये।

मदनसुन्दरी के युवा हृदय में भी उसके प्रति कृतज्ञता का भाव था। बहुमूल्य माणिक्य जो उसे प्राप्त हो गया था। अतः ब्राह्मणों को उत्साहित करती हुई बोली—

—आपको वहुत-सा द्रव्य दान दूँगी। क्रियाओं में कोई कमी न रह जाय।

ब्राह्मण उत्साहित हो गए। यह जानते हुए भी कि मदनसुन्दरी वेश्या है वे धार्मिक क्रियायें कराने लगे। वाह री लोभवृत्ति ! धन-प्राप्ति के लिए मनुष्य कार्य-अकार्य का विवेक भी नहीं रखता।

क्रिया समाप्ति पर विजयदेव ने हर्ष प्रकट करते हुए कहा—

—ब्राह्मणो ! इस नगर का मुझ पर वहुत वड़ा उपकार है। मेरे पास एक मनहूस माणिक्य था। वह जिस दिन से मेरे पास आया मेरी सारी संपत्ति नष्ट हो गई। मैं भिक्षुक हो गया। किसी अन्य को इस कारण नहीं दे सका कि उसे भी दुर्भाग्यजनित कष्ट भोगना पड़ेगा। किन्तु इस नगर में वह कहीं खो गया। इस कारण मैं वहुत प्रसन्न हूँ।

माणिक्य के मनहूस होने का विश्वास विजयदेव की प्रसन्नता ने दिला दिया। मदनसुन्दरी चिन्तित हो गई। वह ब्राह्मणों को दक्षिणा का आश्वासन देकर घर आई और माँ से माणिक्य वापिस देने की जिद करने लगी। माँ ने वहुत आनाकानी की किन्तु पुत्री न मानी। उसने कहा—ऐसी वहुमूल्य वस्तु को रखने से क्या लाभ, जिसके कारण भिखारी की सी दशा हो जाय ? युवा पुत्री की हठ के आगे वृद्धा माँ की एक न चली। उसे माणिक्य वापिस देना पड़ा।

माणिक्य पाकर विजयदेव सीधा अपने नगर आया। पिता सिरिदेव अपने पुत्र को देखकर वहुत प्रसन्न हुए। विजयदेव माणिक्य के कारण धनी हो ही चुका था। सभी परिवारीजनों ने उसकी प्रशंसा की। वह भी दान आदि शुभ कार्यों में दत्तचित्त रहता हुआ अपना लोक-परलोक सुधारने लगा।

आपत्तिकाल में भी जो अपना विवेक नहीं खोते और वुद्धि कौशल से आपत्तियों को पार कर जाते हैं—सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वही लोक-परलोक को सुधार सकते हैं।

—कथारत्नकोष, भाग २, कथानक २४

५

उपशम की आराधना

[सुदत्त की कथा]

—कहाँ छोड़ आई ?

—गिरकर फूट गया। मेरा क्या दोष ?

—दोष क्यों नहीं ? चलेगी मटक-मटक कर, कहीं देखेगी और कहीं पाँव पड़ेंगे। रोज का नुकसान करती है, कुलक्षिणी कहीं की ?

—कुलक्षिणी मैं नहीं, जिस दिन से घर में आई हूँ दुःख ही दुःख पाया है। ताने सुनते-सुनते छाती छलनी हो गई है। ऐसी सास किसी दुश्मन को भी न मिले।

—जबान लड़ाती है।

—सच कहती हूँ।

तड़ाक-तड़ाक तमाचों की आवाजें आने लगी। तभी खड़-खड़-खड़र—मानो जमीन पर कंकड़-पत्थरों की बरसात हुई। खनाक् की ध्वनि—और फिर मार डाला की आवाज। पुनः और भी जोर से खनाक् की आवाज और फिर तो कुहराम ही मच गया।

अब बाहर बैठे श्रेष्ठिपुत्र सुदत्त से न रहा गया। उसने सम्मुख बैठे अपने मित्र खेम से पूछा—

—मित्र ! तुम्हारे घर में कुहराम मचा हुआ है और तुम मेरे साथ निश्चिन्ततापूर्वक बैठे बातें कर रहे हो ?

—क्या करूँ मित्र ! यह तो रोजाना का रोना है। मैं तो तंग आ गया हूँ इससे।—दुखी स्वर में खेम ने उत्तर दिया।

—बड़े निर्दयी हो। कम से कम अन्दर चलकर देखो तो सही कि

हुआ क्या ? अभी तक जोर-जोर से रोने की आवाज आ रही है।—सुदत्त ने आग्रह किया।

खेम ने सुदत्त का आग्रह माना और दोनों मित्र घर के अन्दर पहुँचे। वहाँ देखा तो दो स्त्रियों के सिर से रक्त वह रहा था और दो जोर-जोर से रो रही थीं। जिनके सिर से रक्त वह रहा था। वे अचेत हो गई थीं। जल के छींटे आदि देकर उन दोनों को सचेत किया। समीप ही दाने पड़े हुए थे जो हार से गिर कर विखर गए थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि—खेम की पत्नी घड़ा लेकर पानी भरने गई थी। रास्ते में घड़ा गिरकर फूट गया। इसी वात पर खेम की माता ने उसे डाँटा-फटकारा और तमाचे लगाए। खेम की पुत्री यह न देख सकी। उसने आगे वढ़कर दादी के गले का हार तोड़ दिया। खेम की वहन ने अपनी माँ का हार टूटता देखा तो क्रोध में भर गई। उसने साँकल उठाकर लड़की के सिर पर दे मारी। रक्त का फव्वारा छूटने लगा। खेम की पत्नी ने अपनी पुत्री की यह दशा देखी तो क्रोध मे वेभान हो गई और उसने साँकल उठाकर अपनी ननद (खेम की वहन) के सिर पर भरपूर वार किया। उसके सिर से भी रक्त की धारा वहने लगी और दोनों अचेत हो गई। अपनी-अपनी पुत्रियों को अचेत देखकर दोनों सास-वहुएँ चीख-चीखकर रोने लगीं।

सुदत्त इस तनिक सी घटना का ऐसा भयंकर परिणाम देखकर वहुत दुःखी हुआ। उसने अपने घर में कभी ऐसा कांड न देखा था। वह श्रेष्ठी वासवदत्त का लाड़ला पुत्र था। उसकी माता ललिता भी सरल स्वभाव की सदाचारिणी स्त्री थी। माता-पिता दोनों का उस पर अगाध प्रेम था और घर में सुख-शांति का साम्राज्य।

अपने मित्र को विचार-मग्न देखकर खेम ने पूछा—

—क्या सोच रहे हो, मित्र ?

—क्या सोचूँ ? एक मिट्टी का घड़ा फूटने का ऐसा भयंकर कुपरिणाम ! मैं तो काँप गया।

—मित्र ! तुम तो एक ही घटना को देखकर काँप गए और यहाँ तो रोज ही कुहराम मचता रहता है।

—इसका कुछ उपाय करो।

—क्या करूँ ? कुछ समझ में नहीं आता। इन लोगों को कितना समझाया, डाँटा-डपटा पर कोई नहीं समझता। सभी अपनी-अपनी जिद पर अड़े हैं, आदत से लाचार हैं।

—मुझे तो इसका कारण कुछ दूसरा ही मालूम पड़ता है—कोई प्रकोप हो, भूमि का दोष हो अथवा ऐसा ही कोई अन्य कारण हो जिसके समक्ष तुम सभी लाचार हो।

—न जाने क्या है ? पर मैं तो बहुत दुखी हूँ।

—किसी ज्ञानी पुरुष से पूछो।

—कोई मिले तब न ! तुम्हीं मेरी मदद करो, मित्र !

सुदत्त ने अपने मित्र का आग्रह माना। दोनों ही किसी ज्ञानी पुरुष की खोज में रहने लगे। समय यों ही व्यतीत होता रहा।

× × ×

एक दिन दोनों मित्र राज-मार्ग पर चले जा रहे थे। सड़क पर उन्होंने अनेक लोगों को बातचीत करते सुना। वे कह रहे थे—नगर के बाहर एक सर्वज्ञ भगवान आए हुए हैं। वे तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखते-जानते हैं।

यह सुनकर इन दोनों के हृदय में उत्सुकता जाग्रत हुई। वे भी वहाँ जाकर खेम के गृह-कलह का कारण पूछना चाहते थे। आगे बढ़ने को हुए तभी पीछे से आवाज आई—'नगरनरेश श्रावस्ती[1] अधिपति महाराज जितशत्रु पधार रहे हैं। नागरिक एक ओर हट जायें।' और उन्होंने देखा, राजा अपने समस्त परिवार और परिकर सहित हाथी पर बैठा चला आ रहा है।

---

१. यह सावत्थी नाम की नगरी अपर विदेह में थी। वहाँ का राजा जितशत्रु था। यह कथानक वहीं का है।

राजा की सवारी निकल भी न पाई थी कि आकाश से देव-दुन्दुभियों का शब्द सुनाई पड़ा। ऊपर की ओर देखा तो अनेक देवविमान चले आ रहे थे।

अन्य सभी लोगों के साथ सुदत्त और खेम भी तीर्थंकर सर्वज्ञ के समवसरण में पहुँचे और विधिपूर्वक वंदन करके बैठ गए। तीर्थंकर प्रभु ने धर्मदेशना दी।

उसके पश्चात् ही एक मनुष्य ने अपने चार पुत्रों के साथ प्रवेश किया। वह दैन्य और दुःख की साक्षात मूर्ति था। विविध रोगों से जर्जर देह, कुरूप-पिशाच जैसा। संपूर्ण उपस्थित जनों की दृष्टि उस पर जम गई। उसने आगे बढ़कर प्रभु को वन्दन किया और अंजलि बाँध नतमस्तक होकर बोला—

देवाधिदेव! मैं इस नगरी का निवासी अत्यंत कंगाल व्यक्ति हूँ। मेरे शरीर में अनेक रोग हैं। अत्यन्त बुरा और घिनौना मेरा रूप है। ये मेरी चार संतान हैं– चंड, प्रचंड, चुलणी (पुत्री) और बोम। ये सभी मुझे बहुत दुखी करते हैं। बड़ा पुत्र चंड महाक्रोधी है और झगड़ा करके लोगों को दुखी करता है। दूसरा प्रचंड घोर अभिमानी है– अपनी डींगें हाँकता रहता है और दूसरों का अपमान करने में ही इसे आनन्द मिलता है। तीसरी पुत्री चूलणी अनर्गल प्रलाप करती है और महावक्र हृदयवाली है—बड़ी मायाविनी है यह। कपट और छल इसकी प्रत्येक बात में रहता है। और चौथा पुत्र बोम तो अनेक दोषों का घर है, महालोभी है यह। हे नाथ! मैंने पूर्व-जन्मों में ऐसे क्या पाप किये थे कि मैं ऐसा दुसह दुख भोग रहा हूँ।

भगवान ने सहज गंभीर वाणी में फरमाया—हे देवानुप्रिय! ध्यान से सुनो।

इस जन्म से पूर्व सातवें भव में तुम कुंभापुर नाम के नगर में अनेक शास्त्रों के विद्वान दुर्ग नाम के ब्राह्मण थे। उस समय भी तुम्हारे चार पुत्र थे। तुमने उन्हें योग्य कलाओं में कुशल कर दिया।

एक बार गाँव में अकाल पड़ गया। वर्षा नहीं हुई। खेतों में अनाज

उत्पन्न न हो सका। तुम्हारी आय कम हो गई। तब तुमने अपने चारों पुत्रों को बुलाकर कहा—पुत्रो ! घर की दशा तुमसे छिपी नहीं है। खाने के लाले पड़ गये हैं। इस विपम स्थिति में क्या किया जाय ?

पुत्रों ने सांत्वना देते हुए कहा—पिताजी ! आप निश्चिन्त रहिए। हम लोग ऐसी युक्ति करेंगे कि हमारा निर्वाह सरलतापूर्वक होता रहेगा। इस पर तुमने कहा—ऐसा ही करो, पुत्रो !

इसके पश्चात् तुम्हारे चारों पुत्र घर से चल दिये।

बड़ा पुत्र किसी अन्य ग्राम में रहने वाले तुम्हारे काका (चाचा—पिता का छोटा भाई) के पास पहुँचा। काका ने उसे प्रेमपूर्वक बिठाया और आने का कारण पूछा। उसने कहा—

—पिताजी ने अपने धन के शेष भाग को लेने भेजा है।

—कैसा धन ?—काका ने आश्चर्य से पूछा।

—वाह काकाजी ! आप भूल गए। वही जो मेरे पिता ने रखा था आपके पास।

—मेरे पास कोई धन नहीं है।

—यों बेईमान तो मत बनिए। धन के लिए घर में ही बेईमानी अच्छी नहीं होती।

बेईमान विशेषण सुनकर काका को क्रोध आ गया। वह अपशब्द कहने लगा। बातों में बात बढ़ गई और दोनों ने पास पड़ी लोहे की छड़ें उठा लीं। परस्पर आघात करने लगे। संयोगवश तुम्हारे पुत्र के सिर पर चोट लग गई। रक्त बह निकला। उसने शोर मचा दिया—'ब्राह्मण को मार डाला—ब्राह्मण को मार डाला, ब्रह्महत्या हो गई।'

उसका शोर सुनकर आस-पास के लोग इकट्ठे हो गए। तुम्हारे काका को पकड़ कर राजा के पास ले जाने लगे। राजदण्ड से वह भयभीत हो गया और ५००) रुपये देकर बड़ी कठिनाई से तुम्हारे पुत्र से पीछा छुड़ाया।

तुम्हारा पुत्र प्रसन्न होकर वापिस आया और रुपये तुम्हें देकर सारी घटना सुनाई। रुपये देखकर तुम भी हर्षित हुए और 'बेटा! तुमने बड़ा अच्छा काम किया, बड़ा अच्छा काम किया' कहकर उसकी प्रशंसा की। इसके पश्चात् उसको तो धन प्राप्ति का एक तरीका ही मिल गया। वह किसी भी धनिक के पास जाता और अपना पेट फाड़ने की धमकी देकर धन वसूल कर लेता। लोग भी ब्रह्महत्या और राजदण्ड के भय से उसे धन देकर अपना पीछा छुड़ाते।

तुम तो धन पाकर फूल ही रहे थे। पुत्र के इस कृत्य को और भी बढ़ावा देते। कहते कि 'ठीक ही है, यह धनिक हमारे परिश्रम की कमाई अपनी तिजोरियों में बन्द कर लेते हैं। हमारा शोषण करते हैं। इनसे किसी भी प्रकार से धन ले लेना उचित ही है।'

× × ×

दूसरा पुत्र अपने साथ एक सहायक तथा अन्य सामग्री लेकर कुशस्थलपुर पहुँचा। वहाँ योगविद्या में प्रवीण भूईल नाम का एक योगाचार्य रहता था। वह लोगों में पूज्य था तथा विद्या-प्रयोगों—मंत्र, यंत्र, झाड़-फूँक, जादू-टोने से अपनी जीविका चलाता था। तुम्हारे पुत्र ने भी तिलक-छापे लगाए और उसके सम्मुख जाकर उच्च स्वर से बोला—

—योगी! तुम जानते ही क्या हो? बताओ ध्यान का स्वरूप क्या है? ध्येय का स्वरूप क्या है? किसका ध्यान किस समय करना चाहिए। पुष्प कितने होते हैं? किस ऋतु में कौन सा पुष्प खिलता है? देवी का मंत्र क्या है? तुम्हारी परम्परा कौन सी है? तुम्हारे गुरु का नाम क्या है? तुमने यह ठगविद्या कहाँ सीखी?

इतने सारे प्रश्नों को सुनकर योगी हक्का-बक्का रह गया। वह कुछ उत्तर न दे सका। उसने समझा कि यह पुरुष बड़ा ज्ञानी है। अतः आदरपूर्वक अपनी कुटिया में ले गया और बोला—

—भद्र! मैं यन्त्र-मन्त्र आदि विद्याओं से आजीविका चला रहा हूँ। तुम मेरे पेट पर लात क्यों मार रहे हो?

—मैं तो लात नहीं मारूँगा किन्तु इसके बदले मुझे क्या मिलेगा ? —तुम्हारे पुत्र ने कहा।

योगी उसका संकेत समझ गया। उसने बहुत-सा धन देकर उसे विदा कर दिया। उसे आजीविका का एक नया मार्ग मिला। घर वापिस आकर उसने तुम्हें धन दिया और यंत्र-मंत्र आदि के ढोंग से धनोपार्जन करने लगा। लोग उसे गुणी समझकर उसका आदर करने लगे। परिणामस्वरूप उसे बहुत घमंड हो गया।

तुम भी अपने पुत्र के आदर, उसके अभिमान को अच्छा समझते थे, उसकी सराहना करते थे। धन तो तुम्हें खूब मिलता ही था। उसके दर्प को तुमने और भी बढ़ावा दिया।

× × ×

तीसरा पुत्र धनोपार्जन हेतु घर से तो निकल गया किन्तु द्रव्य-प्राप्ति का उसे कोई मार्ग नजर न आया। तब उसने कीमियागर[1] होने का ढोंग रच लिया। इस प्रकार सोने को दुगुना करने के बहाने लोगों को ठगने लगा।

घूमता-घामता वह कंपिल्लपुर नगर में जा पहुँचा और हाट में बैठ गया। वहाँ उसे एक धनी व्यक्ति दिखाई दे गया। उसने उस सेठ से नाम पूछा तो उत्तर मिला—धनदेव ! कपटपूर्वक तुम्हारे पुत्र ने कहा—

—नाम तो मेरा भी धनदेव है परन्तु अन्तर इतना है कि तुम अपने लिए धन का उपार्जन करते हो और मैं दूसरों के लिए।

सेठ धनदेव की उत्सुकता जाग्रत हो गई। उसने पूछा—कैसे ?

—तुम व्यापार करके धनोपार्जन करते हो और अपनी तिजोरी

---

१. कीमियागर धातु विद्या विशारद को कहा जाता है। मध्यकाल में ऐसी प्रसिद्धि थी कि ये लोग रसायन प्रयोग द्वारा अन्य सस्ती धातुओं—जैसे तांबा, सीसा आदि को सोने में बदल देते हैं। इसी प्रकार ये लोग सोने को दुगुना-तिगना कर सकते हैं।

में वन्द कर देते हो, जबकि मैं स्वर्ण को दुगुना करके उसके स्वामी को वापिस लौटा देता हूँ, उसे धनी बना देता हूँ।

'दुगुना स्वर्ण' सेठ का लोभ जागा किन्तु कहीं धोखा न हो इसलिए उसने एक माशा स्वर्ण देकर परीक्षा की। उसके पास स्वर्ण था ही उसमें से निकालकर एक माशा स्वर्ण मिलाया, कुछ समय तक रसायन क्रिया का ढोंग किया और सेठ को दो माशा स्वर्ण दे दिया।

सेठ को कुछ विश्वास जमा। उसने दो माशा स्वर्ण दिया, उसे चार माशा वापिस मिल गया। और विश्वास बढ़ा। उसने दस माशा स्वर्ण देकर वीस माशा प्राप्त कर लिया। अब तो पूर्ण विश्वास हो गया। उसने जीवन भर की पूँजी पाँच सौ माशा स्वर्ण देकर कहा—

—इसे भी दुगुना कर दीजिए।

स्वर्ण के ढेर को तुम्हारे पुत्र ने देखा। उसकी आँखों में चमक आ गई किन्तु हृदय के भाव छिपाकर बोला—

—सेठजी! यह तो बहुत है। मेरे पास रसायन कम हैं। इसलिए रसायन ले आऊँ तब तक आप अपने पास ही रखिए।

सेठ को विश्वास तो जम ही चुका था। बोला—

—आपमें और मुझमें अन्तर ही क्या है? आप अपने पास ही रखिए।

—नहीं सेठजी! धन का मामला है। कहीं कुछ हो जाय तो! मैं ठहरा गरीब आदमी।—तुम्हारे पुत्र ने सेठ को तोला।

—कुछ नहीं होगा। आप अपने पास ही रखिये और रसायन ले आइये।—सेठ ने विश्वासपूर्वक दृढ़ता से कहा।

विश्वास में विश्वासघात हो गया, सेठ के साथ। तुम्हारा पुत्र पाँच सौ माशा स्वर्ण लेकर रफू-चक्कर हो गया। गाँव में आकर उसने अपनी चतुराई की कहानी सुनाई और स्वर्ण तुम्हें दे दिया। तुमने भी उसकी बहुत प्रशंसा की।

उसके बाद वह इसी प्रकार कपटपूर्ण व्यवहार से लोगों को ठगता रहा और तुम अपने पुत्र की प्रशंसा के पुल बाँधते रहे।

× × ×

चौथा पुत्र धनोपार्जन के निमित्त समुद्र पार गया। उसने वहाँ जाकर राजा की चाकरी (नौकरी) कर ली। थोड़ा-बहुत धन कमाया। उसकी एक महाधनाढ्य बाबा से भेंट हो गई। वह उसका शिष्य बन गया। खूब सेवा की और बाबा का विश्वास प्राप्त कर लिया। एक रात्रि को बाबा का सम्पूर्ण धन-माल लेकर भाग आया।

अपने पुत्र की संपूर्ण कथा सुनकर तुमने उसे बहुत शाबाशी दी, बहुत प्रशंसा की।

× × ×

कितने ही समय तक तुम्हारे पुत्र इस प्रकार के निंद्य कार्यों से धन कमाते रहे। किन्तु सचाई कब तक छिपती? नगर निवासियों और राज्याधिकारियों को असलियत मालूम पड़ गई। उन्होंने तुम्हारे चारों पुत्रों के नाक, कान और हाथ-पाँव काट दिये। तुम्हारा धन भी नष्ट हो गया। रिश्तेदार-नातेदार और नगर-निवासियों ने भी तुमको बहुत धिक्कारा। अनेक प्रकार के कष्टों को भोगते हुए तुम्हारे चारों पुत्र मर गए। इस दुःख को तुम न सह सके और तुम्हारा भी मरण हो गया।

तुम पाँचों (एक पिता और चारों पुत्र) नरक-तिर्यच गतियों में भ्रमण करते हुए इस नगर में मनुष्यरूप में उत्पन्न हुए हो। पूर्वकृत कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ेगा। संताप क्यों करते हो?

तीर्थंकर प्रभु के मुख से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनकर उस पुरुष को भी स्मृति हो आई। उसे अपने कर्मों का बड़ा पश्चात्ताप हुआ। श्रमण संयम पालने की योग्यता न होने के कारण उसने सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रत अंगीकार कर लिए। किन्तु तीनों पुत्रों और एक पुत्री तीव्र कषायी होने के कारण न तो सम्यक्त्व ग्रहण कर सके और न व्रत। वे पापी तीर्थंकर भगवान की अमृतोपम वाणी सुनकर भी सूखे ही रहे, पहले जैसे मलिन ही बने रहे, उनकी आत्मा में सुसंस्कार न जाग सके।

× × ×

सुदत्त और खेम भी बैठे सुन रहे थे। तीर्थंकर प्रभु द्वारा उस पुरुष के वृत्तान्त को सुनकर खेम से पूछा—

—मित्र ! कुछ समझे, अपने गृह कलह का कारण ?

—समझा तो सही, पर परमार्थ न जान सका। —खेम ने उत्तर दिया।

—जिस घर में मुखिया ही कषायों की प्रवृत्ति में अपनी सम्मति देता है, वह ऐसे ही पापकर्म का उपार्जन करता है और परिणाम-स्वरूप उसे संताप भोगना पड़ता है। —सुदत्त ने परमार्थ बताया।

खेम ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया और बोला—

—हाँ मित्र ! तुम्हारा कथन सत्य है। पर इस गृहकलह से अब छुटकारा कैसे हो ?

इस छुटकारे का उपाय जानने के लिए दोनों मित्रों ने भगवान से विनती की—

—हे स्वामी ! इन कषायों के दुश्चक्र से छुटकारा पाने का उपाय बताइये।

भगवान ने बताया कि इन कषायों के दुश्चक्र से छुटकारा पाने का उपाय उपशान्त भाव है। क्रोध को क्षमा से जीते, मान को विनम्रता से, मायाचारी अथवा कपट पर सरलता से विजय प्राप्त करे और लोभ को सन्तोष से वश में करे। इस प्रकार की प्रवृत्ति से कषायों का उपशमन हो जाता है और चित्त में शांति का सागर लहराने लगता है।

अपने परम कल्याण का इच्छुक खेम तो भगवान के चरणों में उसी समय दीक्षित हो गया और सुदत्त ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया। वह कषायों के उपशमन की भावना करता हुआ भगवान की वन्दना करके घर चला आया।

सुदत्त अपने काम-काज में लग गया। किन्तु उसकी प्रवृत्ति ही बदल गई। अब वह घर के नौकर-चाकरों पर भी क्रोध न करता। मान का भाव उसके हृदय से निकल गया था। वह नौकरों से भी

समानता का व्यवहार करता। व्यापार में भी झूठ न बोलता, कपट-पूर्ण व्यवहार न करता और धन-संपत्ति के प्रति निस्पृह-सा हो गया। उसने भौतिक धन के स्थान पर सन्तोष रूपी धन अपना लिया था।

इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि घर के दास-दासी भी उसका सम्मान न करते। पिता वासवदत्त को अपने पुत्र का मान-सम्मान नष्ट होते देख बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने पुत्र को एकान्त में बुलाकर समझाया—

—बेटा ! तुम्हें अपनी मान-मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए। दास-दासी भी तुम्हारी हँसी उड़ाते हैं। उन्हें तुम्हारी उदारता और सदाशयता का आभास नहीं है। अतः पात्र देखकर व्यवहार किया करो।

पिता की शिक्षा लोक-व्यवहार के अनुसार उचित थी किन्तु पर-मार्थ की इच्छा करने वाले सुदत्त ने विनम्रता से कहा—

—पिताजी ! आप सत्य कहते हैं। किन्तु मान कषाय के वशीभूत होने से मेरी आत्मा पतित हो जायगी, मुझे बहुत दुःख उठाने पड़ेंगे। मैं क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों कषायों से दूर ही रहना चाहता हूँ।

पिता समझ गए कि पुत्र के हृदय में उपशान्त भाव की गंगा बह रही है, अतः समझाना व्यर्थ है। वे चुप हो गए।

× × ×

एक बार सावत्थी (श्रावस्ती) नगरी में अकाल पड़ गया। अकाल भी ऐसा भयंकर कि लोग अनाज के एक-एक दाने को तरस गये। काल का तांडव होने लगा। अन्न के अभाव में लोग भूखों मरने लगे। मरता क्या न करता—लोगों ने चोरी आदि निंद्यकर्म करने प्रारम्भ कर दिए।

इस विपरीत प्रवृत्ति को देखकर धनिकों ने अपनी और अपने धन की रक्षा का कड़ा प्रबन्ध कर लिया। एक बार सुदत्त सेठ का चौकी-दार कुछ ऊँघ गया। लोगों को मौका मिला और वे घर में घुस आये। धन-धान्य की पोटलियाँ बाँधी और चलने लगे। तभी पहरेदार

कार्यदक्षता
[सुरशेखर की कथा]

९

अचानक ही रात के पिछले प्रहर में राजा हरिषेण की निद्रा भंग हो गई। कारण कुछ भी न था। बहुत इधर-उधर करवटें बदलीं किन्तु नींद जैसे रूठ ही गई। अकेले पड़े-पड़े राजा का मस्तिष्क क्रियाशील हो गया। उसका विचार-प्रवाह बहने लगा - अभी तक तो मैंने प्रजा का समुचित पालन किया, याचकों को कभी खाली हाथ न जाने दिया। शत्रुओं को वश में रखा। देश का शासन सुचारु रूप से चलाया किन्तु अब शरीर शिथिल हो चला है, वृद्धावस्था के लक्षण भी स्पष्ट हैं। शरीर के अशक्त होने पर यह राज्य-भार उचित रूप से वहन न कर सकूंगा तब अव्यवस्था फैल जायगी ....।

अव्यवस्था का विचार आते ही राजा का हृदय एक बार तो काँप गया किन्तु तुरन्त याद आई राजकुमारों की। विचारधारा फिर बहने लगी—मेरे चार पुत्र हैं—जयदेव, देवधर, धरणिधर और सुरशेखर। एक से बढ़कर एक चतुर। सभी पुरुषोचित ७२ कलाओं में निपुण हैं। एक-से-एक बढ़कर बली और साथ ही विनीत। तभी राजा ने निर्णय किया कि मंत्रियों से सलाह करके पुत्रों की परीक्षा लूंगा।

इन्हीं विचारों में प्रातःकाल हो गया। राजा नित्यकर्मों से निपट कर राजसभा में आ बैठा। कुछ देर तक तो राज्य का कार्य किया फिर विशिष्ट सामंतों और मंत्रियों के अतिरिक्त सभी को विदा कर दिया। एकान्त हो जाने पर राजा ने मंत्रियो के समक्ष अपना निर्णय प्रगट किया।

मंत्री सुमति ने कहा—

—महाराज ! आपका विचार श्रेष्ठ है। समस्त भारतवर्ष और कुशावर्त देश में अपना नगर रायपुर सुशासन के कारण ही प्रसिद्ध है। इसके सिंहासन पर योग्यतम कुमार को ही बिठाना चाहिए। अतः सभी कलाओं में राजकुमारों की परीक्षा लेना उचित है।

—तभी यह निर्णय हो सकेगा कि श्रेष्ठतम कुमार कौन-सा है ? —दूसरे मंत्री वामदेव ने अपनी सम्मति दी।

अन्य सभी सरदारों ने भी इस योजना पर सहमति प्रकट की। राजकुमारों को बुलाया गया। बड़े प्रेम से बिठाकर राजा ने पूछा—

—पुत्रो ! तुमने सभी कलाएँ सीख लीं; परन्तु कभी हमारे सामने प्रदर्शन नहीं किया। हम भी तो जानें तुमने क्या सीखा ?

—जब आपकी आज्ञा हो तभी हम प्रस्तुत हैं।

—तो कल ही सही।

—जो आज्ञा।

और दूसरे दिन ही परीक्षा प्रारम्भ हो गई। कुमारों ने अनेक कलाओं का प्रदर्शन किया। राजा और मंत्रिगण सतर्क दृष्टि से देखते रहे। सबसे छोटा कुमार सुरशेखर अधिक दक्ष दिखाई दिया। मंत्रियों ने उसकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा और राजा की ओर दृष्टि घुमाई। संकेत हुआ और छोटा पुत्र श्रेष्ठ मान लिया गया।

किन्तु राजा का व्यवहार विचित्र रहा। उसने जयदेव आदि अन्य तीनों पुत्रों की तो प्रशंसा की किन्तु सुरशेखर से कुछ न कहा। राजा का इस व्यवहार से अभिप्राय यह था कि सुरशेखर प्रशंसा पाकर कहीं अभिमानी न हो जाय लेकिन सुरशेखर ने इसे अपमान समझा; फिर भी वह गुरुजनों के प्रति विनीत बना रहा।

कुछ दिन बाद चारों राजकुमारों की धनुर्विद्या, शस्त्रविद्या आदि की परीक्षा ली गई। उसमें भी सबसे छोटा कुमार सुरशेखर ही श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। किन्तु राजा ने अन्य कुमारों की तो प्रशंसा की और

ग्राम भी पुरस्कारस्वरूप दिये किन्तु सुरशेखर को अब भी शाबाशी न दी, दो मीठे तथा उत्साहवर्धक शब्द भी न कहे।

अब सुरशेखर को अपना अपमान खल गया। उसने अर्ध-रात्रि को भीम नाम का अपना एक सहायक साथ लिया और चुपचाप राज-महल से निकल गया।

चलते-चलते वह कमलसंगपुर नगर में जा पहुँचा। उसी समय उसे एक घोषणा सुनाई पड़ी। ढोल बजाकर राजकर्मचारी कह रहे थे—

—नगरवासियो सावधान! नगरनरेश राजा दत्तविरिय की ओर से चेतावनी दी जाती है कि महाराज का निजी हाथी 'गंधहस्ती' मतवाला होकर अपने कीले को तुड़ाकर भाग निकला है। सभी उससे सावधान रहें। साथ ही यह घोषणा भी की जाती है कि जो पुरुष उसे बिना अंकुश के ही वश में करेगा उसके साथ राजकुमारी का विवाह कर दिया जायेगा।

अभी घोषणा करने वाले वहाँ से हट भी न पाये थे कि हाथी की चिंघाड़ सुनाई दी। लोगों में भगदड़ मच गई। सुरशेखर और भीम ने भी घोषणा सुनी। वे भी एक ओर हटकर खड़े हो गये।

तभी हाथी उधर आ गया। राजकुमारी के लोभ में अनेक राज-पुत्र उसे पकड़ने का प्रयास कर रहे थे किन्तु पास कोई नहीं जा रहा था। दूर से ही उसे बहलाने का प्रयास कर रहे थे मानों वह कोई गाय हो। राजपुत्रों के इस खेल को देखकर सुरशेखर हँस पड़ा। वह बोला—

—दूर-दूर क्यों रहते हो? इसके कंधे पर चढ़ जाओ, न!

राजपुत्रों ने एक नजर सुरशेखर को देखा और फिर हाथी की ओर दृष्टि घुमाई। लेकिन उसका विकराल रूप देखकर पास जाने का साहस न हुआ। हाथी ने जोर की चिंघाड़ मारी तो उनके रहे-सहे देवता भी कूँच कर गए। घबड़ाकर इधर-उधर भाग गए।

अब राज-मार्ग पर हाथी अकेला खड़ा था। सुरशेखर ने कमर-बन्द को कसकर बाँधा, केशों का जूड़ा सा बनाया और हाथी के सामने आ डटा। कुछ देर तक तो हाथी को वैसे ही इधर-उधर घुमा-कर थकाया और फिर उछल कर उसके कन्धे पर जा चढ़ा और मधुर स्वर में गीत गाने लगा।

संगीत का प्रभाव अद्‌भुत होता है। वह मानव और पशु दोनों पर एक समान पड़ता है। शान्त रस से सराबोर गीत ने हाथी की चित्त-वृत्ति भी शान्त कर दी। उसका मद उतर गया।

सुरशेखर ने हाथी को हस्तिशाला में जा खड़ा किया और सेवकों ने हाथी को वश में करने वाले को राजसभा में। राजा दत्तविरिय ने सेवकों से पूछा—

—यह नवयुवक कौन है ?

—महाराज ! आपके अधीन देशों—चीन, हूण, कलिंग और बंग का निवासी-तो है नहीं। कोई परदेशी है।

राजा ने एक साधारण आसन की ओर बैठने का संकेत करके सुरशेखर से पूछा—

—भद्र ! तुम कौन हो ? आकृति से तो किसी उच्च कुल के लगते हो ?

सुरशेखर ने आसन की ओर देखा और अरुचि से मुँह फेर लिया। न वह आसन पर बैठा और न उसने कोई उत्तर दिया। राजा समझ गया कि यह किसी राजा का पुत्र है। इसी कारण साधारण आसन पर नहीं बैठ रहा है। उसने अपने पार्श्व में ही उच्चासन डलवाया और उस पर बिठाकर पूछा—

—भद्र ! तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? तुम्हारे माता-पिता कौन है ? तुम्हारा कुल क्या है ?

—इन बातों को पूछने से क्या लाभ ? मनुष्य के गुणों से उसका मूल्य आँकना चाहिए। —बात काटकर सुरशेखर ने

इस विचित्र उत्तर को सुनकर राजा दत्तविरिय चौंका किन्तु मनोभावों को छिपा कर बोला—

—यह तो सत्य है कि मूल्य रत्न का ही होता है फिर भी उसकी खानि (उत्पत्ति स्थान), जाति आदि का तो पता लगाया ही जाता है।

—तो आप लगाते रहिए पता, मैं चला। —और सचमुच वह उठकर चलने लगा।

राजा ने उसे आग्रहपूर्वक रोका और मन में समझ गया कि अवश्य ही यह पिता से रूठकर चला आया है। उसने अपने सेवकों से कहा—

—इसका कोई और साथी भी है? पता लगाओ।

सेवक गए और पता लगाकर भीम को पकड़ लाये। राजा ने भीम से पूछा तो कुछ आनाकानी के बाद उसने पूरा परिचय बता दिया। राजा ने परिचय पाकर राजकुमार के गले से लगा लिया।

ज्योतिषियों से मुहूर्त निकलवाया और शुभ लग्न में अपनी पुत्री ललितसुन्दरी का विवाह उसके साथ कर दिया।

सुरशेखर ललितसुन्दरी के साथ आनन्द से रहने लगा।

× × × ×

एक बार राजा दत्तविरिय अपने प्रधान पुरुषों के साथ प्रमदवन की शोभा देखने गया। सुरशेखर भी वन की शोभा देखता हुआ एक कदली कुंज में जा बैठा। एक भयानक आकृति वाला मल्ल अपने हाथ में लोहदण्ड लिये सहसा प्रगट हुआ और राजा पर आघात करने लपका। सुरशेखर ने उसे देख लिया और बीच में आकर उसके दोनों हाथ पकड़ लिए। काफी देर तक दोनों में कशमकश हुई। सुरशेखर ने उसके हाथ का लोहदण्ड छीन कर एक ओर फेंक दिया। तब उन दोनों में गुत्थमगुत्था होने लगी। काफी देर तक दोनों मल्लयुद्ध के पैंतरे दिखाते रहे। राजा किंकर्तव्यविमूढ़ सा देखता रहा। वह मल्ल काफी थक गया। तभी राजा के अंगरक्षकों ने उसे पकड़ लिया। राजा ने उससे पूछा—

—तुम्हें किसने भेजा है ?

किन्तु वह मल्ल चुप रहा। अंगरक्षकों ने काफी ताड़ना दी फिर भी उसने जवान न खोली। जव उसने कुछ न वताया तो राजा ने माली को बुलाकर पूछा—

—हमारे यहाँ आने से पहले और कौन आया था ?

—कुमार अपराजित के सिवाय और कोई नहीं। —माली ने वताया।

राजा के संकेत पर अंगरक्षकों ने उस मल्ल को चावुक से मारना प्रारम्भ किया। कुछ देर तक तो वह पिटता रहा किन्तु जव पीड़ा असह्य हो गई तो कातर स्वर में वोला—

—वताता हूँ। मारो मत।

—बताओ। सच-सच वताना अन्यथा तुम्हारी खैर नहीं। —राजा ने कड़क कर कहा।

उसने वताया—

—महाराज ! मुझे कुमार अपराजित ने आपका प्राणान्त करने के लिए भेजा था।

—क्यों ?

—वे राज्यसिंहासन पर अधिकार करना चाहते हैं।

राजा विचार में पड़ गया। राज्य सिंहासन के लिए पितृहत्या जैसा जघन्य कार्य। उसे राज्य से अरुचि हो गई किन्तु अपराधी को दण्ड देना ही था। जव तक मुकुट सिर पर वँधा है कर्तव्य निभाना ही पड़ेगा। उसने उस मल्ल को प्राणदण्ड और कुमार अपराजित को देश निकाले का आदेश दे दिया। सुरशेखर को अपना उपकारी समझ उसने कहा—

—भद्र ! मैं तो अब राज्य त्यागकर तापसी दीक्षा ले रहा हूँ। तुम इसे संभालो।

सुरशेखर ने विनम्र स्वर में समझाया—

—राजन् ! कुमार की इस भूल को क्षमा करिए। यह राजपाट

उसी का है। उसी को दीजिए। मुझे तो इसकी तनिक भी इच्छा नहीं है।

—उसे सिंहासन नहीं मिल सकता। उसने घोर अपराध किया है।

—युवावस्था में भूल हो ही जाती है।

राजा कुछ देर तक सोचता रहा फिर बोला—

—उसे क्षमा कर भी दिया जाय किन्तु प्रजा का भाग्य उसके हाथ में कैसे दे दूँ। जो राज्य के लोभ में पिता की हत्या करा सकता है ऐसा क्रूरहृदय प्रजा पर न जाने कैसा अत्याचार करेगा। उसके अत्याचारों से प्रजा तो त्राहि-त्राहि ही कर उठेगी। नहीं, राज्य का भार तो तुम्हें ही लेना पड़ेगा।

—अब कुछ नहीं होगा। मनुष्य जीवन में एक बार भूल करता है, बार-बार नहीं।

—मुझे विश्वास नहीं है। पिता अपने पुत्र को क्षमा तो कर सकता है परन्तु इसे इस बात की आज्ञा नहीं दे सकता कि वह असंख्य लोगों के जीवन से खिलवाड़ करे। सुरशेखर ! तुम यदि राज्य का भार लेने को प्रस्तुत हो तो कुमार अपराजित को क्षमा मिल सकती है।

राजा दत्तविरिय की बात नीतिपूर्ण थी। सुरशेखर ने कहा—

—मैं राज्य का शासन संचालन तो कर लूँगा किन्तु राज्याभिषेक मेरा नहीं होगा।

—क्यों ?

—इसलिए कि राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी कुमार अपराजित है। मैं उसी का राज्याभिषेक करूँगा।

—राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी होता है प्रजा को सुखी करने वाला। खैर, तुम जब समझो कि वह अपने कर्तव्य का भली-भाँति पालन कर लेगा तब तुम्हारी इच्छा हो सो करना। —राजा ने निर्णायक स्वर में कहा।

उपस्थित सभी लोगों ने सुरशेखर की निस्पृहता की प्रशंसा की। राजाज्ञा से कुमार अपराजित को वापिस बुला लिया गया। उसका अपराध क्षमा हो गया और राजा दत्तविरिय ने तापसी प्रव्रज्या ले ली।

कुमार अपराजित भी सुरशेखर के प्रति कृतज्ञता से भर गया। उसने अपना जीवन ही बदल लिया। राज्य कार्य सुरशेखर चलाता और अपराजित उसकी सहायता करता।

समय व्यतीत होता रहा। अपराजित भी राज्य-कार्य में निपुण हो गया।

× × ×

पराक्रम और यश सुगन्धि की भाँति स्वयमेव ही फैल जाते हैं। कुमार सुरशेखर का यश भी उसके पिता हरिषेण तक जा पहुँचा। अपने प्रिय पुत्र की स्मृति में वह व्याकुल तो था ही। तुरन्त ही प्रधान पुरुषों को कमलसंगपुर भेज दिया। उन्होंने आकर सुरशेखर से विनती की—

—कुमार! राजा दत्तविरिय की प्रव्रज्या की खबर सुनकर तुम्हारे पिता भी संसार से विरक्त हो गये हैं। उनकी इच्छा भी प्रव्रजित होने की है। तुम्हें इसी कारण बुलाया है।

कुमार अपराजित का राज्याभिषेक करके सुरशेखर अपनी रानी ललितसुन्दरी को लेकर चल दिया। पिता के पास पहुँचकर उसने प्रणाम किया। पिता ने अपने योग्य और पराक्रमी पुत्र को कंठ से लगा लिया और गद्गद स्वर में बोला—

—पुत्र! ऐसा भी क्या रोष कि मुझे बिना बताए ही चले गए।

—पिताजी! वह मेरी भूल थी। —सुरशेखर के स्वर में विनम्रता थी।

—नहीं पुत्र! भूल तो मेरी थी। मुझे तुम्हारी प्रशंसा में दो शब्द अवश्य ही कहने चाहिए थे। जहाँ गुणों का आदर नहीं होता वहाँ या तो गुण नष्ट हो जाते हैं अथवा गुणी ही उस स्थान को त्याग देते हैं।

समय व्यतीत होता रहा और उसके साथ-साथ सावदेव की स्मृति भी धूमिल पड़ती गई। भवदेव घर के काम-काज में लग गया। उसने अपने दाक्षिण्य गुण[1] के कारण अपनी और कुल की कीर्ति खूब फैलाई।

× × ×

एक बार भवदेव किसी कार्य से दूसरे ग्राम में गया। जब वह लौट रहा था तो मार्ग में एक पथिक मिला। पथिक ने पूछा—

—भद्र ! कहाँ जा रहे हो ?

—विस्सपुरी की ओर। और आप ?—भवदेव ने उत्तर देने के साथ-साथ प्रतिप्रश्न भी कर दिया।

—मैं भी वहीं जा रहा हूँ।—पथिक ने बताया।

'एक से दो भले' पथिक ने भी सोचा और भवदेव ने भी। दोनों साथ-साथ चलने लगे।

पथिक उस नगरी का राजा दिवाकर था। वह अश्वक्रीड़ा हेतु नगरी से बाहर निकला था। भाग्यवश मार्ग भटक गया और किसी भयानक जंगल में जा पहुँचा। उसके साथियों ने बहुत खोज की परन्तु राजा न मिला तो निराश होकर लौट आए। उधर घोड़ा भी चलते-चलते बेहाल होकर मर गया। तब राजा पैदल ही अपनी नगरी की ओर लौट पड़ा। वह कई दिन का भूखा-प्यासा, थका-हारा और धूल-धूसरित था।

चलते-चलते मध्यान्ह हो गया। भवदेव साथ में लाए भात को खाने बैठा तो उसने साथी पथिक की ओर देखा। उसे वह भूखा मालूम हुआ। यह उचित नहीं था कि भवदेव तो खा ले और उसका साथी बैठा देखता रहे। उसने अपना आधा भात उस पथिक को आग्रह करके खिला दिया। कुछ समय तक विश्राम करके आगे चले और रात्रि हुई तो दोनों अलग-अलग शिलाओं पर जा लेटे।

---

१. दाक्षिण्य गुण से अभिप्राय है किसी से ईर्ष्या न करना और निस्वार्थभाव से परोपकार करना।

७ | कृतज्ञ भवदेव

विस्सपुरी (विश्वपुरी) नगरी बंगाल देश की विभूषा के समान ही विभूषित थी। जैसी नगरी समृद्धिशाली थी वैसे ही उसके निवासी भी धार्मिक थे। असत्य व्यवहार, अत्याचार, अनाचार का नाम भी नहीं सुनाई पड़ता था। नगरनरेश दिवाकर भी सूर्य के समान प्रतापी और तेजस्वी था। समस्त प्रजा का वह जीवन-दायिनी शक्ति के समान ही पालन करता था।

नगर के अनेक सेठों और महाजनों में मंथर सेठ का नाम अग्रगण्य था। उसका व्यापार भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था। आय भी अच्छी थी। साक्षात् लक्ष्मी के समान ही उसकी पत्नी भी लक्ष्मी थी और नाम भी उसका लक्ष्मी ही था। उसके दो पुत्र थे—बड़ा सावदेव और छोटा भवदेव।

एक बार सेठ को अपने घर के सामने मंडप बनाने का विचार उत्पन्न हुआ। पिता की इच्छा पूरी करने के लिए बड़ा पुत्र सावदेव जमीन खोदने लगा जिससे वहाँ मण्डप का स्तम्भ गाड़ा जा सके। खोदते-खोदते कुदाल किसी धातु से जा टकराई। 'यह क्या है'—ऐसा सोचकर उसने गड्ढा और भी गहरा खोदा तो उसमें एक ताँबे का कलश दिखाई पड़ा। कलश का मुख खोला तो उसमें रखा खजाना दिखाई दिया। खजाना देखते ही सावदेव का सिर चकराने लगा। उसके मुख से अनायास ही निकला—'यह क्या हुआ' और वह अचेत हो गया।

तुरन्त परिवारी जन आ गए और शीतोपचार द्वारा उसे सचेत किया। कुछ स्वस्थ हुआ सावदेव, तो पिता ने पूछा—

—वत्स ! क्या हो गया तुम्हें ?

—कुछ नहीं पिताजी ! पूर्वजन्मों की स्मृति हो आई।

—यह कैसे सम्भव हो सकता है ?—पिता मंथर सेठ ने विस्मित होकर कहा।

—सम्भव है पिताजी ! आपको उत्सुकता है तो ध्यानपूर्वक सुनिए।

पिता को उत्सुकता तो जाग्रत हो ही चुकी थी। उसने स्वीकृति दे दी।

सावदेव अपने पिछले जन्मों की घटना सुनाने लगा—

मैं इससे पूर्व पाँचवे जन्म में उज्जैनी नगरी के वसु नामक वणिक का पुत्र था। वहाँ से उत्तम-उत्तम माल भरकर अपने सार्थ के साथ मैं यहाँ आया। माल अच्छे मूल्य पर बिका। खूब लाभ हुआ। इसी स्थान पर शंभु नाम के सेठ का घर था। उससे प्रतिदिन भेंट होती थी। अतः प्रेम बढ़ गया। प्रेम ने विश्वास का स्थान ले लिया। उसी समय मैंने सुना कि कोई अन्य राजा इस नगर पर आक्रमण करने वाला है। मैं अपने धन के सम्बन्ध में चिंतित हो गया। विश्वासी मित्र शंभु से सलाह की—

—मित्र ! अब मुझे क्या करना चाहिए ? इस धन की रक्षा कैसे हो ?

—चिन्ता क्यों करते हो मित्र ! मैं तो हूँ। —शंभु सेठ ने कहा।

—तुम क्या करोगे ?

—कोई न कोई उपाय सोच ही लेंगे।

—जल्दी सोचो। धन लुट जाने के बाद उपाय सोचा भी तो क्या ?

वह कुछ देर तक सोचता रहा और फिर बोला—

—मित्र ! इस समय तो तुम अपने धन को ताँबे के कलश में भर

कर यहाँ भूमि में गाड़ दो। भूमि में छिपा धन कोई नहीं देख पाएगा। जब आक्रमणकारी चले जायें तब निकाल लेना।

यह उपाय मुझे भी उचित लगा और सारा धन ताम्रकलश में रखकर गाड़ दिया। अपने साथियों को इधर-उधर बिखरा दिया जिससे उनकी भी प्राण-रक्षा हो जाय।

इसके पश्चात शम्भु सेठ ने आग्रह करके मुझे यहीं रोक लिया। मैं भी रात्रि को यहीं सो गया। उसने लोभ के वशीभूत होकर रात को गरदन दबाकर मुझे मार डाला।

मैं इसी घर में चूहा बना। ओघसंज्ञा के कारण मैंने यहीं अपना बिल बनाया। एक दिन उत्साहित होकर मैं जमीन खोदने लगा। मेरी इच्छा थी कि अपने खजाने तक पहुँच जाऊँ किन्तु वह इच्छा पूरी न हो सकी। एक सर्प मुझे निगल गया। चूहे की पर्याय छूटी तो सर्प बना। सर्प योनि में भी मैं अपने खजाने के आसपास चक्कर लगाने लगा। कभी वहाँ फन फटकारता तो कभी कुंडली मारकर बैठ जाता। एक दिन अचानक ही मुझे एक नेवले ने देख लिया और मेरे टुकड़े कर डाले। सर्प योनि छूटी तो गृहस्वामी के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। अनेक कलाओं की शिक्षा प्राप्त करता हुआ युवा हो गया।

इस घर में रहते हुए मेरी विचित्र दशा थी। जब तक बाहर रहता तब तक तो बिलकुल ठीक रहता और घर में प्रवेश करते ही सुधबुध भूल जाता। कुछ भी काम करने के अयोग्य हो जाता। उद्विग्न-हृदय इधर-उधर घूमता रहता। न भोजन ही अच्छा लगता और न नींद ही आती। मेरी यह दशा देखकर मेरे पिता ने अनेक वैद्यों, तांत्रिक-मांत्रिकों से उपचार कराया किन्तु मेरी दशा न सुधरी। मैं वैसा का वैसा ही रहा।

तभी एक बार संवर नाम के महाज्ञानी श्रमण पधारे। मैंने उनसे अपनी दशा के बारे में पूछा। तब उन्होंने मेरे तीनों पूर्वभवों (१—उज्जयिनी के वणिक वसु का पुत्र, २—चूहा, ३—सर्प) का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाकर कहा—

—हे भद्र ! इसी स्थान पर तीन वार तुम्हारा प्राणघात हो चुका है और वार-वार धन की वासना के कारण तुम यहीं उत्पन्न हुए हो। तुम्हारे चित्त के उद्विग्न होने का यही कारण है।

मुनिराज की वात सुनकर मुझे भी अपने पूर्वभव स्मरण हो आए। मुझे यह घर श्मशान के समान भयानक लगने लगा। मैं भयभीत हो गया। पिता से कुछ कहे विना ही एक ओर को चल दिया। मार्ग में एक नदी मिली। वह जल से आप्लावित थी। मैंने समझा कि तैर-कर पार निकल जाऊँगा, किन्तु जल की गहराई में डूब गया और वहाँ से मरण पाकर यहाँ उत्पन्न हुआ।

सावदेव ने अपने पिता को सम्बोधित करते हुए कहा—

—पिताजी ! यह है मेरे पिछले चार जन्मों की कहानी जो मुझे इस ताम्रकलश को देखकर याद हो आई है।

पिता मंथर सेठ अपने पुत्र के पूर्वभवों के वृत्तान्त को सुनकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने अपने पुत्र को सांत्वना देने और समझाने का प्रयास करते हुए कहा—

—पुत्र ! तुम्हारा धन तुमको मिल गया। अब चित्त में खेद मत करो। इसका उपभोग करके सुख पाओ।

—धन तो मिल गया किन्तु इसी के लोभ के कारण मुझे वार-वार मरना पड़ा है। तिर्यंच योनि में उत्पन्न हुआ। मनुष्य गति भी पाई तो उद्विग्नचित्त रहा। ऐसे धन से क्या लाभ जो आत्मा को पतित करता रहे। न मुझे धन चाहिए, न जमीन।

यह कहकर सावदेव ने पिता के चरण छुए और चल दिया। पिता ने उसे रोकने का वहुत प्रयास किया किन्तु वह न रुका। पिता और समस्त परिवारीजन देखते ही रह गए।

सावदेव उद्यान में पहुँचा तो वहाँ उसे वही पहले वाले संवरमुनि दृष्टिगोचर हुए। वह उनके चरणों में जा गिरा और बोला—

—गुरुदेव ! मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझे इस माया-मोह से छुटकारा दिलाइये।

मुनिश्री ने उसे सम्बोधा—

—देवानुप्रिय ! यह लोभ ही अनेक अनर्थों की खानि है। तुम स्वयं ही जानते हो कि इसके कारण तुमने कितने दुःख भोगे हैं। इसका त्याग करो और निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धाशील बनो।

—मुझे अब न धन का लोभ है, न जमीन का। मैं तो इस फाँसी के फन्दे को निकाल फेंकना चाहता हूँ। —सावदेव ने विकल होकर कहा।

पूज्यश्री ने पात्र समझकर उसे प्रव्रजित कर लिया। वह भी गुरु-चरणों में रहकर ज्ञान-संयम की आराधना करने लगा।

× × ×

बड़े पुत्र के चले जाने से पिता मंथर सेठ बहुत दुःखी हुए। पिता को धैर्य बंधाते हुए छोटे पुत्र भवदेव ने कहा—

—पिताजी ! विवेकी पुरुष परदेश गए का, परलोक गए का और प्रव्रजित हुए का शोक नहीं किया करते। आप भी दुःख को हृदय से निकाल दीजिए।

पिता ने ठंडी साँस छोड़ते हुए कहा—

—वत्स ! तुम दोनों मेरी दो आँखें हो। एक आँख चली गई तो क्या मुझे दुःख नहीं होगा ?

—चली कहाँ गई तात ! वह तो और भी अधिक प्रदीप्त होकर चमक रही है। भैया श्रमण बनकर आत्म-कल्याण कर रहे हैं यह तो सन्तोष की बात है। हर्ष होना चाहिए हम सबको। क्या हम उनकी आत्मोन्नति में दुःख मनावें ?

मंथर सेठ को भी भवदेव की बात उचित लगी। सच ही तो कह रहा है पुत्र। मनुष्य जन्म का एकमात्र ध्येय श्रमणधर्म का पालन करके आत्म-कल्याण करना ही तो है। भोगोपभोगों में लीन रह कर जन्म अकारथ गंवा देना नहीं। सावदेव ने यही तो किया है। उसने प्रव्रजित होकर कुल के यश में वृद्धि ही की है। यह सोचकर मंथर सेठ संतुष्ट हो गए।

समय व्यतीत होता रहा और उसके साथ-साथ भावदेव की स्मृति भी धूमिल पड़ती गई। भवदेव घर के काम-काज में लग गया। उसने अपने दाक्षिण्य गुण[1] के कारण अपनी और कुल की कीर्ति खूब फैलाई।

× × ×

एक बार भवदेव किसी कार्य से दूसरे ग्राम में गया। जब वह लौट रहा था तो मार्ग में एक पथिक मिला। पथिक ने पूछा—

—भद्र ! कहाँ जा रहे हो ?

—विस्सपुरी की ओर। और आप ?—भवदेव ने उत्तर देने के साथ-साथ प्रतिप्रश्न भी कर दिया।

—मैं भी वहीं जा रहा हूँ।—पथिक ने बताया।

'एक से दो भले' पथिक ने भी सोचा और भवदेव ने भी। दोनों साथ-साथ चलने लगे।

पथिक उस नगरी का राजा दिवाकर था। वह अश्वक्रीड़ा हेतु नगरी से बाहर निकला था। भाग्यवश मार्ग भटक गया और किसी भयानक जंगल में जा पहुँचा। उसके साथियों ने बहुत खोज की परन्तु राजा न मिला तो निराश होकर लौट आए। उधर घोड़ा भी चलते-चलते बेहाल होकर मर गया। तब राजा पैदल ही अपनी नगरी की ओर लौट पड़ा। वह कई दिन का भूखा-प्यासा, थका-हारा और धूल-धूसरित था।

चलते-चलते मध्यान्ह हो गया। भवदेव साथ में लाए भात को खाने बैठा तो उसने साथी पथिक की ओर देखा। उसे वह भूखा मालूम हुआ। यह उचित नहीं था कि भवदेव तो खा ले और उसका साथी बैठा देखता रहे। उसने अपना आधा भात उस पथिक को आग्रह करके खिला दिया। कुछ समय तक विश्राम करके आगे चले और रात्रि हुई तो दोनों अलग-अलग शिलाओं पर जा लेटे।

---

१. दाक्षिण्य गुण से अभिप्राय है किसी से ईर्ष्या न करना और निस्वार्थभाव से परोपकार करना।

भवदेव तो प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हो गया किन्तु कई दिन भूखे रहने के बाद भोजन करने के कारण राजा दिवाकर के पेट में शूल होने लगा। दिवाकर क्षत्रिय था इस कारण उदर-शूल की वेदना भोगता रहा किन्तु उसने भवदेव को जगाया नहीं। प्रातः भवदेव ने जब उससे साथ चलने को कहा तो उसने उत्तर दिया—'तुम जाओ, मैं कुछ देर बाद आऊँगा।' भवदेव अचकचा गया। उसने ध्यानपूर्वक पथिक की मुख मुद्रा देखी। वेदना के चिन्ह स्पष्ट नजर आ रहे थे। उसने साग्रह पूछा—

—तुम मुझसे कुछ छिपा रहे हो। तुम्हें भी विस्सपुर जाना है और मुझे भी। फिर इस जंगल में रुककर क्या करोगे ?

—कुछ कारण है ?—राजा ने पीड़ा को दबाते हुए कहा।

—मुझे भी तो बताओ। मैं तुम्हें अकेला छोड़कर नहीं जा सकता। यह पंथियों—साथियों का धर्म नहीं है कि अपने साथी को अकेला छोड़कर चले जायें।

राजा उसके अति आग्रह से समझ गया कि यह छोड़कर जाने वाला नहीं है। उसने उदर-शूल की बात बता दी। आँखों में आँसू भरकर भवदेव बोला—

—अरे मित्र ! तुमने रात-भर पीड़ा सही, मुझे जगाया तक नहीं। अब भी मुझे टाल रहे हो। यह तो मित्रता का धर्म नहीं है। वचन मात्र से ही अभिन्न मित्र बन जाते हैं और हम-तुम तो दिन भर साथ रहे। मेरे साथ यह अन्याय तो न किया होता।

और भवदेव उसकी सेवा-सुश्रूषा में लग गया। उसके निश्छल प्रेम, उदार हृदय और निस्वार्थ सेवा को देखकर राजा की आँखों से भी आँसू ढुलक पड़े।

निस्वार्थ सेवा और जब वह भी प्रेमरूपी रसायन से मिश्रित हो तो उसमें असीम शक्ति उत्पन्न हो जाती है। राजा का उदर-शूल कपूर की भाँति उड़ गया। उसकी थकान मिट गई। उसमें दुगुना उत्साह और जोश भर गया। उठकर बोला—

—चलो मित्र ! मेरा उदर-शूल मिट गया।

—अभी तो एक मुहूर्त भी नहीं हुआ। कुछ देर और ठहरो।

—नहीं मित्र ! तुम्हारे हाथों में जादू है। मैं बिल्कुल स्वस्थ हूँ।

यह कहकर राजा चलने लगा। भवदेव भी साथ-साथ चल दिया। नगरी की सीमा पर आकर भवदेव ने कहा—

—मेरे घर चलिए। वहीं ठहरिये। स्नान-भोजन आदि करके मुझे कृतार्थ करिये।

ऐसे प्रेम-निमंत्रण को सुनकर राजा गद्‌गद हो गया। वह इसे ठुकराना तो नहीं चाहता था किन्तु उसे अपना भेद खुल जाने का डर था। अतः मन मसोस कर बोला—

—मेरे इस नगर में अनेक परिचित हैं।

—तो क्या मैं अपरिचित हूँ?—भवदेव ने स्नेहभरे स्वर में उपालंभ सा देते हुए पूछा।

राजा विह्वल हो गया। कंठ से लगाकर बोला—

—कैसी बात करते हो, मित्र ! किन्तु तुमने अपना परिचय दिया ही कहाँ है? नाम भी तो नहीं बताया?—यह मित्र को मित्र का प्रेमभरा उलाहना था।

—मेरा नाम भवदेव है और इसी नगर के मंथर सेठ का पुत्र हूँ। अब तो हो गया परिचय?—भवदेव ने मुस्कराकर परिचय दे दिया।

परिचय पाकर राजा लम्बे-लम्बे पग बढ़ाकर चल दिया। उसे डर था कहीं भवदेव के दाक्षिण्य गुण की अदृश्य डोर उसे बाँध न ले। भवदेव उसे जाते हुए देखता रहा और फिर अपने घर की ओर चल दिया।

× × ×

राजा दिवाकर धूल-धूसरित तो था ही। वह अपने महल में प्रवेश कर गया और पहरेदारों ने उसकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। स्नान-आदि से निवृत्त होकर जब वह स्वच्छ वस्त्र पहनकर आया तो सभी चकित रह गए। उनकी समझ में ही न आया कि राजा आसमान से

टपका या जमीन फोड़कर निकल आया। सभी उसके स्वागत-सत्कार में प्रवृत्त हो गए।

किन्तु राजा को अपनी अनुपस्थिति में व्यवस्था भंग हुई सी जान पड़ी। उसे लगा कि राज्य कर्मचारी कर्तव्य के प्रति उदासीन हो गए हैं। जब राजमहल में ही कोई अजनबी इस प्रकार प्रवेश कर सकता है तो प्रजा की क्या दशा होगी? चोर-लुटेरे तो निर्बाध महाजनों और श्रेष्ठियों के घर में प्रवेश कर जाते होंगे। प्रजा की जान-माल की रक्षा कैसे हो रही होगी?

यह विचार आते ही प्रजावत्सल नरेश दिवाकर का हृदय काँप गया। वह तुरन्त राजसभा में आया और महाजनों को बुलाने का आदेश दिया। महाजनों के आते ही उसने पूछा—

—मेरी अनुपस्थिति में व्यवस्था तो ठीक रही? आप लोगों को कोई कष्ट तो नहीं हुआ?

—आपके चरणों की कृपा रही महाराज! किन्तु चोरों का आतंक कुछ बढ़ गया है।—महाजनों के मुखिया ने अटकते-अटकते कहा।

राजा का सन्देह सत्य निकला। उसने पूछा—

—क्या कोई महाजन लुट भी गया?

—हाँ महाराज! मंथर सेठ लुट गया।

—भवदेव का पिता मंथर सेठ तो नहीं?

—हाँ अन्नदाता! वही।

राजा के मुख पर विषाद की रेखाएँ खिंच गयीं। महाजनों को विदा किया और मंथर सेठ को बुलाकर बड़े आग्रह से मंत्री पद पर नियुक्त कर दिया। निवास के लिए भव्य भवन भी प्रदान किया।

कुछ वर्ष इसी प्रकार व्यतीत हुए कि एक दिन मंथर ने विनती की—

—स्वामी! अब मेरा बुढ़ापा आ गया है। कार्य करने की शक्ति नहीं रही। मुझे सेवाकार्य से मुक्त किया जाय।

—यदि तुम अपने पुत्र को अपने स्थान पर नियुक्त कर दो तो

तुम्हारी इच्छा पूरी हो सकती है। —राजा दिवाकर ने अनुज्ञा दे दी।

मंथर सेठ के स्थान पर भवदेव कार्य करने लगा। राजा के समीप रहते हुए भी वह उसे पहिचान न सका। उसे सन्देह तो हुआ किन्तु निश्चय न हो सका। जिस समय राजा उसे वन में मिला था, उस समय वह धूल-धूसरित, थका-माँदा, भूखा-प्यासा था, उसकी कांति भी क्षीण हो रही थी और मुख भी म्लान था; जबकि यहाँ वह रत्नों की चमक से जगमगाता रहता था। वाहरी चमक-दमक व्यक्ति के असली रूप को वहुत-कुछ छिपा देती है।

इधर राजा भी विशेप रूप से सचेप्ट रहता। वह भी अपना मुख दूसरी ओर घुमा लेता। जब भवदेव उसे ध्यानपूर्वक देखता तभी राजा कोई न कोई काम वता देता। कभी कोई चर्चा छेड़ देता, कभी कोई प्रश्न पूछ लेता। वह उसे अपनी ओर कभी ध्यानपूर्वक देखने ही नहीं देता।

एक दिन राजा उवटन-अभ्यंगन के वाद स्नान करने जा रहा था। उसी समय भवदेव किसी आवश्यक कार्य से जा पहुँचा। इस समय राजा दिवाकर के शरीर पर नाममात्र के ही वस्त्र थे। रत्न आदि की जगमगाहट भी न थी। वह अपने सहज रूप में था। भवदेव की दृष्टि उसके मुख पर पड़ी और फिसलती हुई चरणों पर आ गयी। पुनः दृष्टि उठी और अंग-प्रत्यंगों को निरखते हुए मुख पर जा जमी। वह पहिचान गया कि यह तो वही पथिक है जो उसे वन-मार्ग में मिला था।

राजा दिवाकर भी समझ गया कि उसका भेद खुल गया है। भवदेव को सच्चाई ज्ञात हो गयी है। राजा ने अपना मुख नीचा कर लिया। कुलीन पुरुषों के यही लक्षण होते हैं कि वे अपने उपकारी के सम्मुख सदैव विनम्र रहते हैं। अपने प्रति किये गये उपकार को वे जीवनभर नहीं भूलते।

भवदेव और राजा दिवाकर दोनों ने एक-दूसरे के मनोभावों को

समझ लिया। दोनों की आँखों में कृतज्ञता के भाव थे। कोई कुछ न बोला। भवदेव चुपचाप लौट आया।

कुछ दिन बाद अवसर पाकर एक दिन एकांत में भवदेव ने पूछा—

—देव! उस समय आपके ऊपर ऐसा संकट किस प्रकार आ पड़ा था?

राजा ने दुष्ट घोड़े की करामात बता दी।

भवदेव सोचने लगा—अहो, ऐसे कुलीन पुरुषों पर भी कैसे-कैसे संकट आ जाते हैं।

महाराज से विदा लेकर ज्यों ही वह घर पहुँचा, उसी समय उसके बड़े भाई मुनि भावदेव के आगमन का समाचार मिला। भवदेव उन्हें वंदन करने गया। धर्मकथा सुनी। मास कल्प पूर्ण होने पर मुनिश्री ने कहा—

—भद्र! मैं विहार कर रहा हूँ, तुम मेरे पीछे-पीछे चलो।

भवदेव मुनिश्री के पीछे-पीछे चलने लगा। एक योजन चलने के बाद मुनिश्री ने उसे संबोधा। भवदेव प्रव्रजित हो गया और श्रमण-धर्म का पालन करने लगा। आयु के अन्त में समाधिपूर्वक देह त्याग कर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुआ।

—कथारत्नकोष, भाग २, कथानक २३

धीरता फलदायिनी

[राजा महेन्द्र की कथा]

८

पूर्व दिशा के समुद्र के गर्जन-तर्जन और उत्ताल तरंगों की छप-छपाक् की ध्वनि से अपराजिता नगरी के राजा महेन्द्र की निद्रा भंग हो गयी। एक बार आँखें खोलीं तो सागर-तट और तट के वृक्ष दिखाई पड़े। उसने समझा कि कोई स्वप्न है और आँखें मींच लीं। आँखें मिचते ही दृश्य तो गायब हो गया किन्तु कानों में पड़ती हुई सागरध्वनि बन्द न हुई। वह अब भी आ रही थी। एकाएक उत्ताल तरंग का एक झोंका आया और राजा महेन्द्र जल से सराबोर हो गया। वह अचकचाकर उठ बैठा और आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। अब वह समझा कि यह स्वप्न नहीं, सत्य है।

सच्चाई का विश्वास होते ही वह आश्चर्यचकित हो गया। सोचने लगा—यह कैसी देवमाया है? मैं तो अपने महल में गुद-गुदे गद्दे दार पलंग पर सोया हुआ था, यहाँ सागर-तट की रेत में कैसे आ गया? कहाँ गया महल? कहाँ विलीन हो गई नगरी? कहाँ गया परिवार? प्राणप्रिया प्रभावती और जयन्त एवं जयसेन दोनों पुत्रों के बिना कैसे जीवित रहूँगा? कहीं वे भी किसी विपत्ति में न फँस गये हों?

अनिष्ट और आपत्ति की आशंका से राजा महेन्द्र का हृदय काँप गया। वह अपने दुर्दैव और पूर्वकृत पापों को कोसने लगा। मनुष्य को विपत्ति में भाँति-भाँति के विचार आते हैं। उसे भी अपने दुःस्वप्न याद आने लगे। किन्तु इस सोच-विचार से अब लाभ क्या था? उसने हृदय में धैर्य धारण किया और मार्ग के फल-फूलों से पेट की आग बुझाता हुआ उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। चलते-चलते मलय

नाम के एक वड़े नगर में जा पहुँचा। कुछ दिन वहाँ निरुद्देश्य ही व्यतीत किए और फिर गज्जनगपुर की ओर चल दिया।

गज्जनगपुर की सीमा के पास ही एक वन में राजा महेन्द्र एक वृक्ष के नीचे विश्राम हेतु लेट गया। समीप ही कुवेर नाम का सार्थवाह अपने सार्थ सहित पड़ाव डाले पड़ा था। कुवेर सही अर्थों में कुवेर ही था—विपुल धनराशि का स्वामी। पास ही भील-पल्ली थी। अतः उसके हृदय में सहज ही भीलों के आक्रमण की आशंका उभर आई। वह अपने रक्षक सुभटों की खोज करने लगा। खोज करते-करते उसकी दृष्टि राजा महेन्द्र पर पड़ी। वह तुरन्त उसके पास गया। राजा के तेजस्वी मुख और शुभ लक्षणसम्पन्न वलिष्ठ देह-यष्टि को देखकर वहुत प्रभावित हुआ। आदरपूर्वक अपने शिविर में ले आया और वोला—

—महानुभाव ! समीप ही भील-पल्ली है। आप मेरे सार्थ की रक्षा का उत्तरदायित्व ले लीजिए।

राजा ने तुरन्त आश्वासन दिया—

—सार्थवाह ! तुम चिन्ता न करो। मेरे रहते कुछ नहीं होगा।

—चिन्ता तो मुझे स्त्रियों और वच्चों की है। किन्तु अव नहीं रही। आपने सार्थ की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया।

सार्थवाह के शव्द पूरे भी नहीं हुए थे कि वाहर से कोलाहल सुनाई पड़ा—'भील आ गए—भील आ गए।' राजा और सार्थवाह कुवेर दोनों ही शिविर से वाहर निकले। सार्थवाह के सुभट भी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो वाहर निकल आये। उन सुभटों में राजा को अपना पुत्र जयसेन भी दिखाई दे गया। वह सोचने लगा—'मेरा पुत्र यहाँ कैसे ?'

जव तक राजा कुछ और सोचता वाण-वर्षा प्रारम्भ हो गई। भीलों ने भयंकर आक्रमण कर दिया था। मेघवूँदों के समान वाणों की झड़ी लग गई। सार्थवाह के रक्षक सुभट वाणों की वाढ़ से विह्वल हो गए। सोचने-विचारने का समय नहीं था। राजा ने भी धनुष

उठाया और शर-संधान कर दिया। धनुष्टंकार की भीषण ध्वनि से भीलों के दिल दहल गए। उसके पश्चात जो राजा महेन्द्र ने बाण-वर्षा प्रारम्भ की तो वह तभी रुकी जबकि भील मैदान छोड़कर भाग गए। कुबेर सार्थवाह और उसके सभी साथी—सम्पूर्ण सार्थ राजा का धनुर्विद्या कौशल देखकर चकित रह गया। सबने हृदय से उसकी कुशलता की सराहना की।

कुबेर के हृदय में राजा के प्रति सम्मान और भी बढ़ गया। स्नान भोजन आदि के पश्चात कुबेर ने राजा से कहा—

—हे महाशय ! यह सब वैभव आपका ही है। आप इसके स्वामी हैं। मैं तो आपका सेवक हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए। मैं वही करूँगा।

राजा ने प्रतिकार किया—

—सार्थवाह ! यह तुम्हारी सज्जनता है जो मुझे इतना मान दे रहे हो। स्वामी तो इस समस्त वैभव के तुम्हीं हो।

—नहीं महाशय ! रक्षा करने वाला ही स्वामी होता है। आपने ही इस सार्थ की रक्षा की है, अतः स्वामी तो आप ही हैं।

इसी समय जयसेन शिविर के द्वार पर आया। बातचीत बन्द हो गई। राजा ने भली-भाँति देखकर निश्चय कर लिया कि वह उसी का पुत्र है। जब जयसेन चला गया तो राजा ने सार्थवाह से पूछा—

—यह बालक किसका पुत्र है ?

—मेरा।

सार्थवाह के इस संक्षिप्त उत्तर से राजा चकरा गया। उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। पुनः पूछा—

—क्या यह तुम्हारा ही पुत्र है ?

—नहीं, मेरा धर्मपुत्र है।

—इसका परिचय ?

कुबेर सार्थवाह ने बताया—

—महाशय ! कुछ ही दिन पहले मैं अपने सार्थ के साथ उत्तर दिशा में भीमाटवी नामक वन में शिविर डाले पड़ा था। मेरे सेवक

ईंधन आदि लेने गए। वहाँ एक झाड़ी में यह अचेत अवस्था में पड़ा था। सेवक इसे उठा लाए और कुलीन समझकर मैंने इसे अपना धर्म का पुत्र मान लिया।

—किन्तु यह मेरा पुत्र है। —भावावेश में राजा के मुख से निकल गया।

—आपका पुत्र ! तो आप कौन हैं। अपना परिचय बताइये। —सार्थवाह कुबेर ने आग्रह किया।

सार्थवाह के अति आग्रह पर राजा को अपना परिचय बताना पड़ा। सुनकर कुबेर दुःखी हो गया। उसके मुख से निकला—भाग्य की कैसी विडम्बना ! सज्जनों पर कैसी भयंकर विपत्ति !

राजा ने सांत्वना दी—

—भद्र ! सन्ताप क्यों करते हो ? पूर्व-जन्म में जो दुष्कर्म किए हैं उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा। मनुष्य को अपनी मर्यादा के अनुकूल समत्वभाव रखना चाहिए।

मर्यादा शब्द सुनते ही सार्थवाह को भी अपनी मर्यादा का ध्यान हो आया। वह अब तक राजा के पार्श्व में बैठा था और अब नीचे उतरकर बैठ गया। राजा के चरण पकड़कर क्षमायाचना करने लगा। राजा ने कहा—

—कुबेर ! तुमने तो मेरा उपकार ही किया है। मेरे पुत्र के प्राणों की रक्षा की है।........

—बस ! बस ! महाराज अधिक कुछ न कहें। जब तक आपका कार्य सिद्ध न हो जाय, आप अपने नगर न पहुँच जायँ, तब तक मैं और यह सम्पूर्ण सार्थ आपका आज्ञापालक सेवक रहेगा। —सार्थवाह ने राजा की बात काटकर कहा।

—नहीं सार्थवाह ! मुझे गज्जनगपुर में कुछ समय तक ठहरना है। तुम जाओ, अपना व्यापार करो। —राजा ने दृढ़ स्वर में कहा।

सार्थवाह राजा की दृढ़ता देखकर चुप हो गया। उसने नरेश की इच्छा जानकर कुमार जयसेन और अपने कुछ विश्वस्त साथियों को

वहीं छोड़ दिया और स्वयं सार्थ लेकर आगे चला गया। ज
उसने प्रणाम करके राजा के प्रति अपनी भक्ति और कृतः
प्रकट की।

अपने छोटे पुत्र जयसेन के साथ राजा महेन्द्र वहीं निवास क
था कि भगवान मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर पधारे। देवों ने सम
की रचना की। राजा महेन्द्र भी उनके नमन-वदन हेतु गय।
अंजलि बाँधकर प्रभु से पूछा—

—सर्वज्ञ प्रभो ! मेरे साथ ऐसा अनर्थ किसने किया ?

उसी समय काल नाम के यक्ष ने समवसरण में प्रवेश कर
की वंदना की।

—इस काल नाम के यक्ष ने !—प्रभु ने संक्षिप्त सा उत्तर f
किन्तु इस उत्तर से राजा को संतोप न हुआ उसने पुनः पूछा—

—देवाधिदेव ! इसके विरोध का कारण क्या था ? मुझे विर
पूर्वक बताइये।

भगवान अपनी सहज घन-गंभीर वाणी में कहने लगे—

इस भव से पूर्व सातवें भव में तुम विजयपुर नगर के विजय गृह
के सबसे बड़े पुत्र थे। तुम्हारे चार छोटे भाई और थे। सबसे छोटा
काल नाम के यक्ष का और बीच के तीनों भाई इस जन्म में तुम्
रानी प्रभावती और दोनों पुत्रों के जीव थे।

इस प्रकार उस सातवें भव में तुम पाँच भाई थे। सभी घर का क
काज सँभालते हुए रहते थे किन्तु विशेष बात यह थी कि तुम च
अपने छोटे भाई से सदा लड़ते-झगड़ते रहते थे। प्रतिदिन के वि
और लड़ाई-झगड़े से तंग आकर छोटा भाई घर से निकलकर क्षेमं
मुनि के पास प्रव्रजित हो गया। वहाँ इसने सूत्र के परमार्थ का अभ्य
किया और मास-उपवास का अभिग्रह गुरु से लिया। इस प्रकार इ
संयम की आराधना में लीन विहार करता हुआ यह सावत्थी नगरी
बाहर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा था।

तुम चारों भाई भी किसी कार्य से उधर जा निकले और :

कभी किसी का दिल नहीं दुखाना चाहिए। व्यंगवाणों से किसी के हृदय को वेधकर उसे क्रोधित करना शत्रुता की विषवेल ही बढ़ाना है।

तीर्थंकर प्रभु से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनकर राजा को भी जातिस्मरणज्ञान हो गया। उसे अपने कृत्य पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। यक्ष से क्षमा माँगते हुए बोला—

—हे यक्ष ! तुम्हारा कोई दोष नहीं है। मैं ही तुम्हारा अपराधी हूँ। न मैं तुम्हारा उपहास करता और न तुम निदानबन्ध करते। श्रामणी दीक्षा के उत्कृष्ट फल मोक्ष-प्राप्ति से तुम्हें च्युत करके मैंने तुम्हारा बहुत अपकार किया है। मुझे क्षमा करो।

केवली के समवसरण में सभी प्राणी अपना वैर-भाव भूल जाते हैं। यक्ष की शत्रुता भी नष्ट हो गई। आर्द्र कंठ से बोला—

—नहीं राजन् ! मैं ही समत्वभाव को भूल गया था। श्रमणपर्याय का पालन न कर सका। परीषह सहने में अक्षम रहा। तुम कुछ भी कहते—कुछ भी करते, मुझे अपने धर्म का पालन करना चाहिए था। क्रोध-पिशाच के वशीभूत होकर तुम सबको बार-बार सताया-मारा। मैंने घोर हिंसा का बंध किया है। मैं अपने दुष्कर्म पर बहुत लज्जित हूँ। तुम कुछ समय तक यहीं रुको। मैं अभी आता हूँ।

यह कहकर यक्ष वहाँ से चला गया और शीघ्र ही रानी प्रभावती और कुमार जयन्त को साथ लेकर लौटा। उन दोनों को राजा को सौंपते हुए कहने लगा—

—नरेश ! मैंने तुम सबका बहुत अपकार किया है। इसलिए मुझे सकुटुम्ब क्षमा करो।

यों यक्ष ने राजा के सम्पूर्ण परिवार से क्षमा माँगी और राजा के सम्पूर्ण परिवार ने यक्ष से। सभी का क्रोध शांत हो गया। सात भवों से चली आई वैर की परम्परा का अन्त हुआ।

यक्ष ने केवली प्रभु को नमन किया और राजा से बोला—

गई। शिकारी ने मुझे अपनी छोटी बहन बना लिया। और मैं वहाँ वियोग के दिन बिताने लगी।

पुत्र जयंत ने भी अपनी वियोग-कथा कही—

—जब मैं दक्षिण की भीमाटवी में गिरकर अचेत हो गया तो कुछ देर बाद मेरी चेतना लौटी। मैं घूमता-घामता एक तापस के आश्रम में जा पहुँचा और वहीं अपने दिन बिताये।

पत्नी और पुत्र के आग्रह पर राजा ने भी अपनी आप-बीती बता दी।

सुख-दुख की वार्ता के पश्चात् राजा अपने राज्य कार्य में लग गया। कुछ समय इसी प्रकार व्यतीत हुआ किन्तु राजा महेन्द्र के हृदय से केवली प्रभु की स्मृति न निकल सकी। अपने पुत्र को राज्य भार देकर वह पौषधशाला में जाकर संयम का पालन करने लगा।

पूर्वकृत कर्मों के दोष के कारण उसके शरीर में श्वास आदि अनेक व्याधियाँ हो गईं किन्तु राजा ने न धर्म छोड़ा और न धैर्य। वह उनको धैर्यपूर्वक सहता रहा और अन्त में कालधर्म पाकर पल्योपम आयु वाला तेजस्वी देव हुआ।

जो प्राणी आपत्ति, विपत्ति, कष्टों और संकटों को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए धर्माराधन में दृढ़ रहते हैं, वही सफलता प्राप्त करते हैं।

—कथारत्नकोष, भाग २, कथानक २८

९ आदर्श गम्भीरता

[विजयसूरि की कथा]

तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य तपस्वी यशघोष पारणे के लिए मथुरा नगरी में आये। छट्ठम, अट्ठम आदि कठिन तपों के कारण उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया था किन्तु मुख पर अपूर्व शांति विराजमान थी। मुनिश्री ईर्यासमिति का पालन करते हुए पुरोहित कनकदत्त के घर भिक्षा हेतु पहुँचे।

कनकदत्त ने जो मुनिश्री के मुख पर शान्ति का साकार रूप देखा तो उसे लगा जैसे कि उसके कष्टों की अवधि समाप्त हो गई। उसे एक ही कष्ट था—उसका एकमात्र पुत्र विजय अनेक रोगों से पीड़ित था। न जाने कितने देवताओं की आराधना और अर्चना-पूजा के फलस्वरूप एक पुत्र हुआ और वह भी जन्मरोगी। पिता का हृदय दुःख से कातर था। उसने आगे बढ़कर मुनिश्री का स्वागत किया और हृदय का दुःख प्रकट करते हुए कहने लगा—

—हे भगवन्! पधारिये। आज मेरा पुण्य ही प्रकट हुआ जो आप के चरण इस घर में पड़े। आप एक बार मेरे जन्मरोगी पुत्र को देख भर लें। मुझे विश्वास है कि वह नीरोग हो जायगा।

जैन श्रमण इस प्रकार के कार्यों को करके भिक्षा ग्रहण नहीं करते किन्तु अधीर को धैर्य बंधाना और दुःखी को सांत्वना देना वे कभी भूलते भी नहीं। मुनिश्री ने कहा—

—पुरोहित! भगवान ने मुझे ध्यान और स्वाध्याय में लीन रहने की आज्ञा दी है, रोगियों के उपचार की नहीं।

—कौन हैं आपके भगवान?

—तीर्थंकर प्रभु पार्श्वनाथ।

—वही पार्श्वनाथ तो नहीं, जिन्हें देव-दानव-गन्धर्व, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि सभी वन्दन करते हैं ?

—हाँ वही त्रैलोक्यपूजित भगवान श्री पार्श्व।

—मुझ हतभागी को उनके दर्शन कैसे हो पायेंगे ? —पुरोहित कनकदत्त के स्वर में पीड़ा उभर आई।

—इसमें कठिनाई क्या है ? प्रभु स्वयं नगरी के वाहर विराजमान हैं। जब चाहो, दर्शन कर लो।

—अहा गंगा मेरे द्वार पर बह रही है और मैं मूरख प्यासा ही रहा। —पुरोहित ने अवरुद्ध कंठ से कहा।

मुनिश्री को उसने भक्तिभाव से भोजन आदि द्वारा प्रतिलाभित किया और उनके चले जाने के बाद अपने रोगी पुत्र को अंक में लेकर प्रभु दर्शन की उत्कट अभिलाषा से नगर से बाहर आया। देखा तो प्रभु विहार कर रहे हैं—आगे-आगे वे और पीछे-पीछे चतुर्विध संघ। देवों के जय-जयकार से दिशाएँ गूँज रही है। पुरोहित की आँखों में आँसू छलछला आए। भाग्य को कोसता हुआ कहने लगा—

—हाय रे दुर्भाग्य ! मुझे प्रभु के दर्शन भी न हुए। अब मेरा दुःख कैसे दूर होगा ?

समीप ही चलते हुए एक श्रावक को उसका कातर स्वर सुनकर सहानुभूति हो आई। उसने पूछा—

—भाई ! क्या कष्ट है, तुम्हें ?

—मेरा इकलौता पुत्र रोगी है। जंत्र-मंत्र-औषधि आदि सभी उपाय कर लिए, किन्तु सब व्यर्थ। मैंने सोचा था प्रभु की दृष्टि पड़ते ही पुत्र नीरोग हो जायगा किन्तु अब क्या हो सकता है ? —पुरोहित ने अपनी दुःखगाथा सुना दी।

श्रावक ने सांत्वना देते हुए कहा—

—दुःखी मत हो बन्धु ! भगवान की चरण-रज ही परम मंगलकारिणी है। प्रभु यहीं से गये हैं। उनके पावन स्पर्श से यह धूल भी परमपवित्र

—नहीं पुत्र ! वंश चल जाय, तभी प्रव्रजित हो जाना।

—वंश आदि के चक्कर में आप ही पड़िये। मुझे तो बस आज्ञा प्रदान कीजिए।

तब तक विजय की माता भी आगई। यह बात सुनी तो बहुत दुःखी हुई। माता-पिता ने पुत्र को बहुत-बहुत समझाया लेकिन वह न माना तो तीनों ने प्रव्रजित होने का निश्चय कर लिया और सर्वानुभूति गणधर के चरणों में जाकर श्रामणी दीक्षा ले ली। पुरोहित और ब्राह्मणी ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा विजयमुनि चौदह पूर्व एवं सूत्रों के परमार्थ में पारंगत हो गये।

गणधर सर्वानुभूति ने अपना अन्तिम समय जानकर विजय मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया और स्वयं अनशन करके निर्वाण पद प्राप्त किया।

आचार्य विजयसूरि संघ का संचालन सुचारु रूप से करने लगे। अपने शिष्य परिवार के साथ वे भूतल पर विचरण करते-रहते। अन्य अनेक गुणों के साथ उनमें गांभीर्यगुण विशेष रूप से था।

एक बार उन्होंने चार राजपुत्रों को दीक्षित किया। पहला—कुरुराज का पुत्र वरुण, दूसरा पांचालराज का पुत्र सयंभूदत्त, तीसरा सिंधु-सौवीरराज का पुत्र ईशानचन्द्र और चौथा सावत्थीराज का पुत्र अरिहतेज। चारों ही शिष्य घोर तपस्वी बने। उन्हें कठिन से कठिन तप करने में आनन्द मिलता। एक समय उन्होंने आचार्य से विनती की—

—गुरुदेव ! हमारी इच्छा किसी कठिन तप को करने की है, यदि आप अनुज्ञा प्रदान करें।

सद्गुरु अपने शिष्यों की उन्नति से सन्तुष्ट होता है। उन्हें अधिक से अधिक ज्ञान-संयम की आराधना की ओर प्रेरित करता है। जब शिष्य स्वयं ही इच्छा प्रकट करे तो प्रसन्नता और भी बढ़ जाती है। आचार्यश्री ने उन्हें 'देवानुप्रियो ! जैसी इच्छा हो वैसा ही तप

आचरो' यह कहकर आज्ञा दे दी। शिष्यों ने 'तहत्ति' कहा और अंजलि बाँधकर सविनय प्रणाम करके चल दिये।

वरुण मुनि तो वहाँ ध्यानावस्थित हुए जहाँ एक वैताल रहता था। सयंभूदत्त वटवासिनी क्षेत्र देवी के स्थान पर कायोत्सर्ग में लीन हो गये। ईशानचन्द्र भूतों की गुफा में और अरिहतेज श्मशान में जाकर आत्म-ध्यान करने लगे। चारों ही मुनि अडोल, अकम्प ध्यान में लीन थे। दिन व्यतीत हो गया और रात्रि का दूसरा पहर आ गया। अब देवों ने आपकी करामात दिखाना शुरू कर दिया।

मुनि वरुण को ध्यान से विचलित करने के लिए वेताल ने अनेक प्रकार के भयंकर रूप दिखाये, भयानक आवाजें भी कीं किन्तु वह मुनिश्री को तनिक भी विचलित न कर सका। हार मानकर चला गया।

वटवासिनी क्षेत्र देवी ने संयभूदत्त मुनि को ध्यान से विचलित करने के लिए एक माया रची। उसने विकुर्वणा करके एक मांत्रिक को बिठाया, उसके सम्मुख हवन कुंड, सामग्री आदि रख दी और स्वयं एक भयंकर देवी का रूप बनाकर रोष भरे स्वर में बोली—'अरे मांत्रिक! तू इस अग्निकुंड में हवन करने के लिए तत्पर हुआ है। अनेक मन्त्रों का पाठ कर रहा है, विद्या सिद्ध करना चाहता है किन्तु तू अपना अन्तिम समय ही समझ। आज मैं तुझे खा ही जाऊँगी।' यह कहकर देवी ने अपना मुँह खोल दिया। उसकी लाल-लाल जिह्वा और विकराल दाढ़ें चमकने लगीं। आँखों में क्रोध की ऐसी ज्वाला थी मानों दो विशाल माणिक्य ही जड़ दिए हों। भीषण अट्टहास से दिशाएँ गूँज गईं। वह दाँत किटकिटाती हुई मांत्रिक पर झपटी।

मुनि इस माया को न समझ सके। उनके हृदय में मांत्रि प्रति करुणा का संचार हो गया। अनायास ही उनके मुख से हा!! शब्द निकला और ध्यान भंग हो गया। ध्यान भंग न वहाँ मांत्रिक था, न देवी, न हवनकुण्ड और न हवन सा

माया समझ कर मुनि पुनः ध्यानस्थ हुए किन्तु एक बार तो विचलित हो ही गए।

तीसरे श्रमण ईशानचन्द्र को ध्यान से विचलित करने के लिए देवों ने अनुकूल परीषह उपस्थित किया। एक अति सुन्दर युवती और मनोहर अंगों वाले युवक की जोड़ी मुनिजी के सम्मुख आई। पहले तो उन्होंने विभिन्न हाव-भाव प्रदर्शित किए और फिर शृंगाररस पूर्ण अनेक चेष्टाएँ करने लगे। रतिक्रिया में भी संलग्न हुए। भूतों ने इस प्रकार के अनेक करतब दिखाए किन्तु धीर गम्भीर मुनि ईशान-चन्द्र कुलाचल की भाँति अडिग रहे। वे सविशेष ध्यान करने लगे।

चौथे मुनि श्मशान में ध्यानस्थ थे। उनको भी विचलित करने के लिए उपद्रव हुआ। एक भयंकर विशालकाय काला नाग आया। चरणों पर होता हुआ शनैः शनैः ऊपर को सरकने लगा। सिर तक पहुँच गया। पुनः जिह्वा लपलपाता हुआ कभी बगल में सरकता, कभी ऊपर की ओर और कभी नीचे की तरफ। कभी कटि प्रदेश में लिपट जाता तो कभी स्कन्धों पर लहराने लगता। अन्त में उसने कण्ठ में लिपटकर अपना फन ऊपर को उठाया और नासिका पर रख दिया। उसकी आँखें चमक रही थीं और जिह्वा लपलपा रही थी। दृष्टि के समक्ष विक्षेप आ जाने के कारण मुनिश्री का ध्यान भंग हो गया। सर्प के हिम समान शीतल शरीर के स्पर्श से उनके तन में ठण्डी लहर दौड़ गई। सर्प तत्काल विलीन हो गया। मुनि पुनः ध्यान में लीन होने का प्रयास करने लगे।

सूर्योदय के पश्चात चारों मुनि आचार्यश्री के पास आए। सूरिजी विशेष ज्ञानी थे। अपने विशिष्ट ज्ञान से उन्हें रात की घटनाओं की जानकारी हो चुकी थी। अपने चारों शिष्यों से सहज स्वर में बात-चीत की। अलग-अलग एकान्त में ले जाकर दोनों विफल शिष्यों को स्नेहपूर्वक सांत्वना दी और ध्यान की परिपक्वता हेतु प्रेरणा भी। न उन्हें उपालम्भ दिये और न ही उनकी अवहेलना की। सफल शिष्यों को तो शाबाशी और प्रशंसा मिलनी ही थी।

विफल शिष्य भी गुरु की प्रेरणा और सांत्वना पाकर और भी एकाग्रचित्त से ध्यान साधना में लीन हुए। गुरुदेव विजयसूरि के गांभीर्य गुण ने शिष्यों को मोक्षपथ पर दृढ़ कर दिया।

गुरुदेव विजयसूरि ने कुछ समय पश्चात कालधर्म पाया और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

जो मनुष्य गंभीरतापूर्वक स्नेहपूर्ण वाणी में दूसरों की विफलताओं के कारण समझता है और भविष्य में विशेष सावधान रहने की प्रेरणा देता है, वह स्वयं भी अपने गांभीर्य गुण के कारण सफल होता है और दूसरों को भी सफल बनाता है।

विजयसूरि के समान आदर्श गंभीरता लौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में सफलता प्राप्ति में सहायक होती है।

—कथारत्नकोष, भाग २, कथानक २९

इन्द्रियों की दासता
[सुयश सेठ की कथा]

१०

दक्षिण भरतार्द्ध की माहेश्वरी नगरी के सेठ सुयश की पत्नी सुलसा को गीत सुनने का दोहद उत्पन्न हुआ। सेठ ने अपनी स्त्री की इच्छा पूर्ण की। योग्य समय पर एक पुत्र उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया—धर !

दूसरी वार सेठानी गर्भवती हुई तो उसे सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ देखने का दोहद हुआ। दूसरे पुत्र के उत्पन्न होने पर उसका नाम धरण रखा गया।

तीसरी वार के गर्भकाल में सेठानी को सुगन्धित द्रव्य सूँघने का दोहद हुआ। वह अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्प आदि सूँघा करती। पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसका नाम यश पड़ा।

चौथी वार के दोहद में सेठानी को सुस्वादु व्यंजन रुचिकर प्रतीत होते। वह सरस भोजन से ही तृप्त होती। इस वार यशचन्द नाम के पुत्र को जन्म दिया।

पाँचवाँ पुत्र हुआ चन्द ! इस वार सेठानी सुलसा को स्पर्श-सुख का दोहद हुआ था। वह सुकोमल शैया पर सोती और मुलायम आसनों पर ही बैठती। अधिकाधिक शरीरसुख की इच्छा ही उसके हृदय में अहर्निश चलती रहती।

माता को गर्भकाल में जिस-जिस प्रकार के दोहद हुए उसी-उसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ पुत्रों में भी परिलक्षित होने लगी। पाँचों पुत्र बड़े हो गए। पिता ने अनेक प्रकार की कलाओं की शिक्षा दिलवाई। युवा होने पर सुयोग्य कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

पिता के आग्रह से पाँचों पुत्र व्यापार में प्रवृत्त हुए। कुछ धनोपार्जन भी किया किन्तु वे अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को वश में न रख सके। बड़ा पुत्र धर संगीतप्रेमी था, दूसरा धरण रूपप्रेमी, तीसरा यश सुगन्ध-रसिक, चौथा यशचन्द रसना-इन्द्रिय का लोलुपी और पाँचवाँ चन्द शरीर-भोगों का लंपट।

सेठ सुयश से अपने पुत्रों की यह प्रवृत्ति छिपी न रही। उसे तो सेठानी के दोहदों से ही विश्वास हो गया था कि मेरे पुत्र पंचेन्द्रिय भोगों के लंपट बनेंगे फिर भी उसने उन्हें समझा-बुझाकर सही रास्ते पर लाने का प्रयास किया। एक दिन पुत्रों को बुलाकर कहा—

—पुत्रो ! तुम्हारी ये प्रवृत्तियाँ हमारे कुलधर्म के अनुकूल नहीं हैं।

—पिताजी ! आप बात तो कुछ समझते नहीं। यदि हम थोड़ा-सा धन व्यय कर लेते हैं तो आपको अनुचित लगता है। यदि इस उम्र में ही थोड़ा-बहुत शौक-मौज नहीं करेंगे तो क्या बुढ़ापे में करेंगे ? —पुत्रों ने चिढ़कर उत्तर दिया।

पिता अपने विनीत पुत्रों के अविनीत उत्तर को सुनकर चुप रह गया। पिता के मौन ने उनका साहस कुछ और बढ़ा दिया। शौक-मौजों में धन का अधिक व्यय करने लगे। आय से व्यय बढ़ गया। परिणामस्वरूप एक दिन पिता को पुनः कहना पड़ा—

—यदि तुम्हारे आय-व्यय की यही दशा रही तो एक दिन कंगाल हो जाओगे। आय से व्यय बहुत बढ़ा हुआ है, संचित पूँजी कम होती जा रही है।

—तुम्हारे पुत्रों को समझा रहा था कि आय के अनुसार ही व्यय करना चाहिए। अधिक व्यय करने से भविष्य में दुःख उठाना पड़ेगा! किन्तु ये ऐसे मूर्ख हैं कि मानते ही नहीं। उल्टे जवाब देते हैं, अविनीत कहीं के।

अपने पुत्रों के लिए मूर्ख और अविनीत विशेषण सुनकर सेठानी का चेहरा तमतमा गया। पुत्रों का पक्ष लेते हुए बोली—

—आपकी आँखों में तो ये रात-दिन खटकते हैं। मेरे विनीत और सदाचारी तथा व्यापार-कुशल पुत्रों को मूर्ख और अविनीत कहकर आप अपमानित कर रहे हैं। आपकी तो बुद्धि सठिया गई है। चुप-चाप बैठा तो जाता नहीं। व्यर्थ ही युवा पुत्रों को कोस रहे हैं।

यह कहकर सेठानी अन्दर चली गई और सेठ हतप्रभ-सा बैठा ही रह गया। पुत्र भी पिता की ओर मुँह चिढ़ाकर चले गए।

भोजन के समय दासी बुलाने आई तो सेठ ने जाकर देखा कि रसोई में सेठानी है ही नहीं। पूछने पर पता लगा कि वे तो रुष्ट होकर पलंग पर जा लेटी हैं। सेठ वहाँ भी पहुँचा। मनाने का बहुत प्रयास किया। पुत्रों से कुछ भी न कहने का वचन दिया। पर सब व्यर्थ। सेठानी टस से मस न हुई। वह पति से बोली तक नहीं।

इस गृह कलह को शांत किया सेठ सुयश की बड़ी बहिन ने। उसने काफी ऊँच-नीच समझाकर सुलसा को मना लिया। सेठानी मान गई। सभी कार्य यथावत चलने लगे। घर में पुनः शांति का वातावरण छा गया।

गृह कलह तो शांत हो गया किन्तु सेठ का हृदय अशांत ही बना रहा। वह शांति की खोज में घूमने लगा। और एक दिन उसे शांति प्राप्त हो ही गई दमघोष आचार्य के चरणों में। वह प्रव्रजित हो गया और विभिन्न प्रकार के तप करता हुआ आचार्यश्री के साथ यत्र-तत्र विहार करने लगा।

काफी लम्बे समय तक अनेक देशों में विचरण करने के पश्चात

आचार्य दमघोष पुनः माहेश्वरी नगरी में पधारे। साथ में मुनि सुयश भी थे। अन्य शिष्य परिवार भी था। गुरुदेव के नमन-वन्दन के लिए अनेक लोग आते और धर्मश्रवण करके कृतार्थ होते। आचार्यश्री के आगमन का समाचार सुलसा को भी मिला।

दिन के तीसरे पहर वह उपाश्रय में पहुँची। आचार्यश्री और सुयशमुनि को नमन-वन्दन करके उचित स्थान पर बैठ गई। पूज्यश्री ने देखा—उसकी आँखें आँसुओं से भरी हैं, देहकांति मलिन हो रही है। उसके हाव-भावों से वे यह भी समझ गए कि इस स्त्री का सुयशमुनि से कुछ विशिष्ट सम्बन्ध है। जब काफी देर तक सुलसा कुछ भी न बोली तो आचार्यश्री ने सहज स्वर से पूछा—

—तुम्हारा धर्मकार्य उचित रूप से तो चल रहा है ? पुत्र आदि तुम्हारा परिवार धर्म-प्रवृत्ति में सहायक तो है ?

पुत्रों का नाम सुनते ही सुलसा के धैर्य का बाँध टूट गया। वह फफककर रो पड़ी।

पूज्यश्री ने करुणार्द्र वाणी में पूछा—

— क्यों रोती हो ?

—अपने दुःख का कारण स्वयं मैं ही हूँ। अपने ऊपर ही रोती हूँ।—हिचकियाँ लेते हुए सुलसा ने कहा।

—धैर्य रखो। —गुरुदेव ने सांत्वना देने का प्रयास किया।

—क्या धैर्य रखूँ ? गुरुदेव ! जो मुझे सही शिक्षा देता था। उसको तो मैंने स्वयं ही अपमानित करके घर से निकलने को विवश कर दिया और पुत्रों के कारण मेरी यह दशा हुई। पुत्रों का भी क्या दोष ? मुझे अपनी ही करनी का फल मिल रहा है।

—किस प्रकार ? —पूज्यश्री के मुख से अनायास ही निकल गया।

सेठानी सुलसा कहने लगी—

पति सेठ सुयश तो आपके पास प्रव्रजित हो गए हैं। यह तो

आपको ज्ञात है ही। उनके जाने के बाद मेरे पाँचों इन्द्रियलोलुप पुत्र स्वच्छन्द हो गए।

बड़ा पुत्र धर संगीतप्रेमी था। उसका संगील-प्रेम इतना बढ़ा कि उसने लोक-लाज का भी त्याग कर दिया। वह एक चांडाल गवैये के घर जाने लगा। नित्य प्रति जाने से वह उस चांडाल को अपना परिवारी समझने लगा। अपयश इतना बढ़ा कि राजा तक पहुँच गया। उसने इसे वर्ण में संकर दोष उत्पन्न करने वाला मानकर महाजनों के सामने मरवा दिया। मेरा बड़ा पुत्र धर श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत होकर मारा गया और मैं देखती रह गई।

दूसरा पुत्र धरण रूपलोभी था। वह नित्य-प्रति सुन्दर स्त्रियों की टोह में लगा रहता। एक बार नटों की टोली नगर में आयी तो षोडसी नटकन्या की सुन्दरता पर रीझ गया। भँवरे के समान उसके चारों ओर मँडराने लगा। कुल की मर्यादा भूलकर धन दिया और नट-कन्या की याचना की। नट ने टका-सा जवाब दे दिया—'यह कन्या मेरी जीविका का आधार है। तुम इससे विवाह करना ही चाहते हो तो नटविद्या सीखो और हमारे साथ चलो। तुम दोनों तमाशा करना।' पुत्र तो मोहित था ही। घर-परिवार को छोड़ा और उसके पीछे-पीछे चल दिया। कुछ समय में नटविद्या भी सीख ली। घूमते-घामते एक बार नटों की टोली कालसेना नाम की भीलों की पल्ली में जा पहुँची। वे वहाँ अपने करतब दिखाने लगे। पल्लीपति भी उस कन्या पर मोहित हो गया। अतः जब धरण बाँस पर चढ़ा खेल दिखा रहा था, उसने बाँस ही काट दिया। धरण धड़ाम से धरणी पर आ गिरा और जमीन का पूत बन गया। पल्लीपति ने नटिनी के साथ विवाह रचा लिया और मेरा दूसरा पुत्र धरण अपनी चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत रूपलोभी बना काल के गाल में समा गया।

तीसरा पुत्र यश घ्राणेन्द्रियलोभी था। उसे नित्य नई सुगंधि की लालसा लगी रहती। एक बार उद्यान में गया। मालती के पुष्पों की

रह भी कैसे सकता है ? काल रात्रि के समान समस्त कुटुम्ब का नाश करके भी पेट नहीं भरा। अब तो इस काले मुँह को लेकर एक कोने में चुपचाप बैठी रहो। व्यर्थ की बक-बक मत करो।

पुत्र के ऐसे कठोर वचन सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ किन्तु विवश होकर बैठी रह गई, कर भी क्या सकती थी ? आगे कुछ कहने का साहस न हुआ और चुप रह गई।

यशचन्द स्वच्छन्दाचारी तो था ही। एक दिन वेश्या वसन्तसेना के घर जा पहुँचा। वसन्तसेना साधारण गणिका नहीं थी, वह काम-कला में अति चतुर थी। उसने उसे ऐसा स्पर्शसुख दिया कि वह उसका दास ही बनकर रह गया। घर का रास्ता ही उसे याद न रहा। गणिका ने अपने कौशल से सारा धन ले लिया। अब उसकी इसमें कोई रुचि न रही। वसन्तसेना को माँ तो और भी धूर्त थी। अब जब भी चन्द उसके घर जाता तो वह तरह-तरह के बहाने बना-कर उसे रोक देती—पुत्री के पास तक न जाने देती। किन्तु यह पतंगे के समान उसी के चारों ओर मँडराता ही रहता।

वसन्तसेना की माँ ने एक दिन बड़े कठोर शब्दों में इसे फटकार दिया किन्तु इसने बुरा नहीं माना, वरन् प्रसाद ही समझा। हाय ! हाय !! काम की कैसी विचित्र विडम्बना है ?

जब इसने अब भी वहाँ जाना न छोड़ा तो उसने अपने आदमियों को संकेत करके उसे मरवा दिया।

अपने पुत्रों की करुण-कथा सुनाकर सुलसा आचार्यश्री से कहने लगी—

—भगवन् ! पति साधु हो गए और पाँचों पुत्र इन्द्रियों के लोलुपी बनकर मरण को प्राप्त हुए। मैंने स्वयं ही अपनी फलती-फूलती गृहस्थी में आग लगा दी। जैसे विष के बीज बोए वैसा ही कड़वा फल पाया। न मैं अपने पुत्रों का पक्ष लेती और न यह दिन देखने पड़ते।

उसकी करुण-कथा सुनकर आचार्यश्री ने उसे धर्म की ओर प्रेरित करने का प्रयास किया—

—अब तो धर्म की आराधना करो।

किन्तु सुलसा तो कर्मों की सताई हुई थी। धर्म की ओर उसकी रुचि ही न हुई।

सुयश मुनि ने अपने परिवार और पुत्रों की यह कहानी सुनी तो चुपचाप उठकर चले गये। पंचेन्द्रियों को विजय न करने और उनके भोगों की लोलुपता की दुःखद गाथा ने उनके वैराग्यभाव को और भी दृढ़ कर दिया। वे उग्र तप करने लगे और कालधर्म पाकर सनत्कुमार देवलोक में लम्बी आयुवाले महर्द्धिक देव बने।

—कथारत्नकोश, भाग २, कथानक ३०

चुगली क्यों उगली ?
[धनपाल और वालचन्द्र की कथा]

धनपाल और वालचन्द्र दोनों ही मित्र थे, यद्यपि उनकी प्रवृत्ति में यथेष्ट भिन्नता थी। धनपाल सरल था तो वालचन्द्र कुटिल। धनपाल अपनी प्रामाणिकता के लिए नगरी में विख्यात था। सभी उसके गुणों की प्रशंसा करते। किन्तु वालचन्द्र में भी एक गुण तो था ही और वह था मित्र की हाँ में हाँ मिलाना। इसी कारण दोनों में निभ रही थी।

दोनों मित्रों के स्वभावों में भिन्नता का कारण उनकी कुल परंपर थी। धनपाल श्रेष्ठी भवनचन्द और बंधुमती का पुत्र था। भवनचन्द की प्रामाणिकता की प्रशंसा नगरनरेश नरवीर भी करते थे। संपूर्ण काकंदी नगरी उनके सदाचार और सरल स्वभाव से परिचित थी। किन्तु वालचन्द्र चेट्टी संकर का पुत्र था और संकर की गणना विशिष्टजनों में थी ही नहीं।

एक दिन दोनों मित्र वालचन्द्र और धनपाल घूमते-घामते उद्यान में जा निकले। वहाँ उन्हें सुहृदंत मुनि के दर्शन हुए। मुनिराज के तेजस्वी और शांत मुखमण्डल को देखकर दोनों प्रभावित हुए। नमन-वंदन करके उन्होंने जिज्ञासा प्रकट की—

—भगवन् ! आपकी दीक्षा का कारण क्या है ?

—इस संसार में निमित्तों का क्या अभाव ? फिर भी तुम जानना ही चाहते हो सुनो। —और मुनिराज शांत संयत वाणी में सुनने लगे—

निकला—'हाय ! मैं कैसा अधम हूँ कि अपनी बहन के साथ ही रमण करने को इच्छुक हुआ ?' वह तो मारे लज्जा और ग्लानि से अचेत ही हो गई। बड़ी कठिनाई से दासियाँ उसे सचेत कर पाईं।

इस घटना का पता गाँव वालों को लगा तो उन्होंने मुझे सांत्वना दी—'अनजाने में भी तुमसे कोई पाप नहीं हुआ। बारह-चौदह वर्ष का अन्तराल बहुत होता है। नन्हीं-सी रामा युवती हो गई। तुम उसे पहिचान न सके। फिर भी भाग्यवश पहले ही सचेत हो गये। अतः शोक मत करो।' समझा-बुझाकर वह मुझे ले आए।

रामा को अपने जीवन से ऐसी ग्लानि हुई कि वह शौच का बहाना करके निकली और कुए में जा गिरी। दासियों ने शोर किया तो लोगों ने उसे निकाला। किन्तु वह जीवित न निकली उसका शव ही बाहर आया। उसकी चिता जलने लगी तो मैं भी कूद पड़ने को उद्यत हुआ किन्तु लोगों ने मुझे पकड़ लिया और समीप के उद्यान में ले आए। सौभाग्य से वहाँ मुझे चारण श्रमण धर्मसिंह के दर्शन हुए और उन्होंने मुझे सबोधित करके श्रामणी दीक्षा दी।

मुनिश्री सुहृदंत ने अपनी दीक्षा का निमित्त बता दिया। सुनकर धनपाल बहुत प्रभावित हुआ और उसने श्रावक के आचरण योग्य विशेष-विशेष नियम उनसे ग्रहण कर लिए। दोनों मित्र मुनि की वन्दना करके लौट आए।

धनपाल अक्सर मुनिश्री की प्रशंसा करता और बालचन्द्र ऊपरी मन से हाँ में हाँ मिलाता रहता। समय व्यतीत होता रहा।

एक दिन धनपाल अपने मित्र बालचन्द्र तथा अन्य लोगों के साथ बैठा बातचीत कर रहा था कि एक परदेशी मनुष्य आया और उससे बोला—

—हे श्रेष्ठिपुत्र ! एकान्त में आओ तो कुछ काम की बात करूँ।

धनपाल उसका संकेत समझकर उठा और पार्श्व के कक्ष में आ बैठा। परदेशी ने एक हार निकालकर दिखाया। हार एकावली था और उसमें बड़े-बड़े मोती जड़े हुए थे जिसकी कांति चन्द्रमा की

ज्योत्स्ना की भाँति विखर रही थी। सम्पूर्ण कक्ष दूधिया प्रकाश में नहा गया। धनपाल की आँखें भी फटी की फटी रह गई। परदेशी से उसने पूछा—

—ऐसा बहुमूल्य हार तुम्हें कहाँ मिला ?

परदेशी बताने लगा—

मैं सिंहलद्वीप का निवासी ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम आदित्य है। जन्म से तो मैं ब्राह्मण हूँ किन्तु कर्म से वणिक। बंभणवार आदि अनेक देशों में माल बेचना और खरीदना मेरी आजीविका है। एक बार धनोपार्जन के निमित्त मैं अपने वाहन लेकर कडाह आदि कई द्वीपों में गया। वहाँ अनेक प्रकार के माल से भरे मेरे वाहन शिलाओं के बीच में फँस गए। सारा धन नष्ट हो गया। निर्धन समझकर लोग मेरा तिरस्कार करने लगे। मैं भी शोकाकुल हो गया और दुःख के तीव्र आवेग के कारण मूर्च्छित हो गया। इस अचेतावस्था में मुझे मेरी दिवगंत माता के दर्शन हुए। उसने स्नेहपूर्ण स्वर में कहा—वत्स ! दुखी क्यों होता है ? अपनी कुलदेवी की आराधना कर। संकट मिट जाएगा।

सचेत होकर मैं कुलदेवी के मन्दिर में गया और अनशन करके बैठ गया। दशवें दिन अनेक उपसर्ग हुए किन्तु मैं ध्यान से विचलित न हुआ। तब देवी ने प्रकट होकर मुझे दो एकावली हार दिए और बोली—

—ब्राह्मण ! काल विषम है। यहाँ अनेक व्यंतरों का निवास है। इसलिए तू इन हारों को लेकर काकन्दी नगरी चला जा। वहाँ किसी पुण्यवान् वणिक् को बेच देना। काकन्दी तक मैं तेरी रक्षा करूँगी।

कुलदेवी के आदेश से मैं यहाँ आया। एक हार तो मैं इसी नगरी में बेच चुका हूँ और दूसरा हार यह है। जो उचित मूल्य समझो मुझे दे दो और यह हार ले लो।

धनपाल ने हार को उलटा-पलटा, निरखा-परखा और ब्राह्मण को दस हजार सोनैया दे दीं। ब्राह्मण प्रसन्न होकर चला गया। धनपाल ने वह हार मंजूषा में बन्द करके रख दिया।

वालचन्द्र यह सब कुछ कक्ष के गवाक्ष में से देखता रहा। उसे ब्राह्मण की कहानी पर विश्वास न हुआ। उसे लगा कि यह हार चोरी का है और ब्राह्मण ने झूठी कहानी गढ़ी है। कुटिल वृत्ति वाले पुरुष दूसरों की सत्य और सीधी वात को भी कपटजाल समझते हैं। वालचन्द्र का मन भी हार को लेने ललचाया किन्तु वह कर भी क्या सकता था ? हाँ, ईर्ष्या अवश्य उत्पन्न हो गई।

ब्राह्मण के चले जाने के पश्चात धनपाल उठकर आया और वालचन्द्र से वोला—

—मित्र ! जो वातें इस परदेशी ब्राह्मण से हुई हैं वह तुम्हें वाद में वताऊँगा।

× × × ×

राजा नरवीर की पटरानी प्रमदवन के सरोवर में स्नान हेतु अपनी दासियों सहित गई। उसने अपने वस्त्राभूषण किनारे पर रखे और सरोवर के जल में घुस गई। काफी समय तक क्रीड़ा करने के वाद निकली तो उसे अन्य आभूपण तो मिल गए किन्तु मोतियों का एकावली हार न मिला। उसने इधर-उधर ढूँढ़ा; मालियों से पूछा; दासियों ने भी खोज की किन्तु हार न मिला। उसे तो एक चील सफेद सर्प समझकर अपने घोंसले में उठा ले गई थी।

हार न मिलने से रानी शोकाकुल हो गई और महल में आकर पड़ रही। उसने खाना-पीना त्याग दिया। राजा भी चिन्तित हो गया। उसने रानी को आश्वासन दिया—

—चिन्ता मत करो ! मैं शीघ्र ही हार को खोज निकालूँगा।

खोज भी तुरन्त प्रारम्भ हो गई। घोषणा करा दी गई कि जो भी हार की चोरी के सम्बन्ध में सुराग देगा उसे सोलह हजार सोनैया पुरस्कारस्वरूप दी जाएँगी।

घोपणा सुनकर वालचन्द्र के मुँह में पानी भर आया। वह वेश वदलकर राजा के पास पहुँचा और कहा कि हार धनपाल के पास है।

राजा को हार का सुराग मिला और बालचन्द्र को पुरस्कारस्वरूप सोलह हजार सोनैया।

सुराग तो लग गया किन्तु धनपाल जैसे प्रामाणिक सेठ पर हाथ कैसे डाला जाय ? राजा ने युक्ति से काम लेने का निश्चय किया। उसने सभी प्रमुख महाजनों को बुलाकर कहा—

—आप सभी लोग जानते हैं कि पटरानी का अमूल्य मोतियों का हार चोरी चला गया है और अब तक नहीं मिला है। इतना कीमती हार किसी महाजन के घर में ही होगा। अतः तलाशी लेनी पड़ेगी।

—अवश्य लीजिए महाराज ! इसमें हम लोगों से पूछने की क्या आवश्यकता है ? —महाजनों ने समवेत स्वर में कहा।

—आवश्यकता इसलिए है कि आप लोगों का अपमान होगा।

—नहीं, इसमें अपमान की क्या बात है ?

—फिर भी, मेरी इच्छा है कि आप लोग अपने में से ही पंच चुन लें जो कि गुप्तरूप से तलाशी लें क्योंकि मैं राज्य कर्मचारियों द्वारा तलाशी लेकर आप लोगों के सम्मान को मिट्टी में नहीं मिलाना चाहता।

महाजनों ने पंच चुन लिए। वे सभी की तलाशी लेने लगे। हार धनपाल के घर में मिल गया। पंचों ने हार सहित धनपाल को राजा के सम्मुख ला खड़ा किया। धनपाल ने विनती की—

—महाराज ! यह हार मुझे एक परदेशी ब्राह्मण दस हजार सोनैया में बेच गया है।

—परदेशी ब्राह्मण अब कहाँ है ? क्या मेरे समक्ष उपस्थित कर सकते हो ?

—वह तो सिंहलद्वीप से आया था और वहीं चला गया।

—क्या कह रहा था हार बेचते समय तुमसे ?

—उसने बताया था कि उसकी कुलदेवी ने दो हार दिये थे साथ ही यह आदेश भी कि इन्हें काकंदी नगरी में बेचना। एक

तो उसने किसी अन्य को इसी नगरी में बेच दिया और दूसरा मुझे दे गया।

—क्या उसका वर्ण काले रंग था ? क्या उसका उच्चारण अस्पष्ट था ? उसकी आय लगभग इतने वर्ष की थी ?

—हाँ अन्नदाता ! ऐसा ही था।

सम्पूर्ण वार्तालाप में महाराज गम्भीर रहे और धनपाल विनीत ! अन्तिम उत्तर को सुनकर राजा और भी गम्भीर हो गया। फिर भी उसने कहा—

—इस हार को यहीं छोड़ जाओ।

धनपाल विवश होकर हार राजा के पास ही छोड़कर अपने घर चला आया। राजा ने हार पटरानी को दिया और उसने अपने गले में पहन लिया।

हार तो मिल गया किन्तु राजा को रातभर नींद नहीं आई। वह रातभर यही सोचता रहा कि धनपाल जैसा प्रामाणिक पुरुष चोरी का माल नहीं ले सकता। फिर उसने जिस परदेशी ब्राह्मण से हार खरीदा है, वही तो मुझे भी बेच गया है। मुझसे भी उसने यही कहा था कि 'कुलदेवी ने एक जैसे दो हार दिये हैं। एक आपको दे रहा हूँ और दूसरा आपकी नगरी में ही किसी पुण्यात्मा वणिक को दूँगा।' अवश्य ही यह हार धनपाल का है। वह झूठ नहीं बोल सकता। फिर मेरा हार कहाँ गया ? जमीन निगल गई या आसमान खा गया ?

इन विचारों में ही रात गुजर गई। प्रातः नित्यकर्मों से निपटकर राजा नरवीर राजसभा में आ बैठा। उसके मुख पर गम्भीरता की रेखाएँ स्पष्ट थी। कुछ देर बाद ही प्रमदवन के चौकीदार ने प्रवेश करके राजा को प्रणाम किया और मोतियों का एकावली हार उनके समक्ष रख दिया। हार को देखकर राजा चौंका और प्रश्नभरी दृष्टि से देखने लगा। चौकीदार ने बताया—

—महाराज ! उद्यान के एक वृक्ष पर चील का घोंसला है।

मित्र की यह दशा धनपाल ने देखी तो साथ चलने वाले राजकर्मचारियों से पूछा। उन्होंने सब कुछ स्पष्ट बता दिया।

धनपाल तुरन्त राजा के पास पहुँचा और बालचन्द्र को क्षमा करने की विनती करने लगा। राजा ने उसके अपराध की गम्भीरता बताई तो भी धनपाल ने कहा—

—महाराज ! वह मेरा मित्र है। अपने मित्र को विपत्ति में पड़ा नहीं देख सकता—

> जो न मित्रहित होहिं दुखारी।
> तिनहिं बिलोकति पातक भारी॥

अन्त में धनपाल की विनय पर राजा ने बालचन्द्र को क्षमा कर दिया। किन्तु प्रजा में पैशुन्य अवगुण के कारण बालचन्द्र का बहुत अपवाद हुआ। सबने उसे धिक्कारा।

—कथारत्नकोष, भाग २, कथानक ३१

जैन कथामाला के छः भागों में २० महान नारियाँ और २४ तीर्थंकर—यों कुल ४४ उदात्त चरित्र बड़ी सरल और भाववाही भाषा में प्रस्तुत हुए हैं। जब इसके ५० भाग तैयार हो जायेंगे तो अथाह जैन कथा साहित्य का मुक्ताहार पाठकों को अवश्य ही सुलभ हो जायेगा।

—नवभारत टाइम्स [बम्बई]

जैन कथामाला के छः भाग प्राप्त हुए। बड़ा स्तुत्य प्रयास है। जैन-धर्म परम्परा के हजारों उदात्त चरित्र अब तक या तो भण्डारों में सुप्त हैं या संस्कृत-प्राकृत भाषा में बँधे हैं अथवा सिर्फ श्रुति-परम्परा में चल रहे हैं। कथा लेखक का यह शुभ प्रयास राष्ट्रभाषा के भण्डार की समृद्धि तो करेगा ही, जैनधर्म की उदारता और सत्प्रेरणाओं को भी जन-व्यापी बनाने में सक्षम होगा।

—सुधाकर पाण्डेय एम. पी.

(प्रधानमन्त्री—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी)

जैन कथामाला के भाग १ से १२ तक मिले, पढ़कर मन रसाप्लावित हो गया है। जैन इतिहास और पुराण को जिस सरस और सरल शैली में प्रस्तुत किया गया है वह बालक-वृद्ध महिलाओं एवं कम शिक्षित जनों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। अगले भागों की प्रतीक्षा है।

—देवेन्द्रमुनि, शास्त्री

जैन कथामाला

१. ६ महासतियों का जीवन १)५०
२. ७ महासतियों का जीवन ,,
३. ७ महासतियों का जीवन ,,
४. १० तीर्थंकरों का जीवन ,,
५. १२ तीर्थंकरों का जीवन ,,
६. २ तीर्थंकरों का जीवन ,,
[भगवान पार्श्व एवं महावीर]
७. मगधेश श्रेणिक ,,
८. मगधेश श्रेणिक ,,
९. महामन्त्री अभयकुमार ,,
१०. भगवान महावीर के दस श्रमणोपासक ,,
११. प्रसिद्ध श्रमणोपासक ,,
१२. वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार २)५०
१३. वीर युग के वीर साधक १)५०
१४. ऐतिहासिक कहानियाँ ,,
१५. ऐतिहासिक कहानियाँ ,,
१७. ऐतिहासिक कहानियाँ ,,
(वीर निर्वाण सं० ५० से वीर निर्वाण सं० १७०० तक के जैन इतिहास की प्रमुख १०० कहानियाँ)
१८. चक्रवर्तीयों की कथाएँ ,,
(भरत एवं सगरचक्री)

१९. मघवान सनत्कुमार, कुंथुनाथ एवं अरनाथ चक्री १)५०
२०. शांतिनाथ चक्रवर्ती २)
२१. सुभूम, महापदम, हरिषेण, एवं जयचक्री १)५०
२२. ब्रह्मदत्त चक्री तथा अजात शत्रु कूणिक १)५०
२३. प्रथम, द्वितीय वासुदेव बलदेव की कथाएँ ,,
२४. ३, ४ वासुदेव-बलदेव की कथाएँ ,,
२५. ५, ६, ७ वासुदेव-बलदेव की कथाएँ ,,
२६ से ३० ८वें वासुदेव-बलदेव की कथा ८)
[सम्पूर्ण जैन राम-कथा]
३१ से ३३ ९वें वासुदेव-बलदेव की कथा ५)
[समग्र श्रीकृष्ण कथा]
३४ से ३९ जैन आगम, टीका, भाष्य आदि की कथाएँ [प्रेस में]
४० से सम्पूर्ण जैन महाभारत, पांडव-कथाएँ [प्रस्तावित]